c-649

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र–प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष-49 किरण-1 जनवरी-मार्च 96

वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज नई दिल्ली-110002

राग के उपक्रम

राग और वैराग्य दोनो परस्पर विरोधी हैं और दोनों एकत्र नहीं रह सकते। पर आज स्थिति ऐसी बनाई जा रही है कि दोनों एक जगह बैठें। वैराग्य मार्ग में चलने वाला मुनि, प्राय राग में लीन हो रहा है--वह यश धन संस्था और मठ व श्रावक परिवार की ओर आकर्षित है। और राग में स्थित श्रावक उक्त वेरागी बनाम रिषी मुनि के राग को पुष्ट करने में लगा है--वह साधु को हर प्रकार के आधुनिक निर्मित सुखमय उपकरणो के जुटाने में लीन है। उसे आशीर्वाद चाहिए। पर 'ज्ञानध्यान तपोरक्त' साधु में कदाचित आशीर्वाद देने की शक्ति फलीभूत हो जाती है यह उसे मालूम नहीं है। और आज के कितने साधु ऐसे हैं जो ज्ञान ध्यान तप में लीन रहते हो। प्राय उनमें अधिकांश अपनी ख्याति प्रतिष्ठा और सांसारिक उपक्रमों--जैसे प्रचार सस्थान मठ धन संग्रह आदि के मोह में लिप्त देखे जाते है। उदाहरण के लिए उनके जन्मदिन दीक्षादिन उन्ही की उपस्थिति में ठाठ से मनाए जाते हैं जैसे कि गृहस्थों मे अपने सम्बधियों के निमित्त से मनाए जाते हैं।

चौबीस तीर्थकर हुए हैं उनके जीवन काल में एक बार ही जन्म, तप आदि उपक्रम पढे सुने गए है और वह भी उनकी स्वय की रूचि से नहीं हुए जबकि आज के मुनियों के जन्म तप के दिवस प्रतिवर्ष प्राय उनकी उपस्थिति मे मनाए जा रहे है और बडे-बडे कीमती पोस्टरो मे उनके फोटो प्रचारित किए जाते हैं। हालाकि हमने स्वयं अनेकों उन चित्रो को लोगों के पैरो तले, अशुचिस्थानों तक में देखा है। चाहे नतीजा अविनयरूप मे हो, पर तत्कालिक नाम तो हो ही जाता है। अस्तु-- हमें तो ऐसा दिखता है कि भविष्य मे मुनियों के जन्म तप आदि के दिन इनके जन्म कल्याणक और दीक्षा कल्याणक का नाम ही न लेले। लोग इसे सोचें-वैसे ये परमेष्ठियो में तो गिने ही जाते हैं।

संपादक

अनेकान्त

वर्ष ४६	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२	जनवरी -मार्च
किरण-१	वी.नि.सं. २५२२ वि.सं. २०५३	१६६६

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै?

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै,

जाको जिनवाणी न सुहावै।।

वीतराग सो देव छोड़ कर, देव-कुदेव मनावे।

कल्पलता, दयालता तजि, हिंसा इन्द्रासन बावै।। ऐसा०।।

रुचे न गुरु निर्ग्रन्थ भेष बहु, परिग्रही गुरु भावै।

पर-धन पर-तिय को अभिलाषै, अशन अशोधित खावै।। ऐसा०।।

पर को विभव देख दुख होई, पर दुख हरख लहावै।

धर्म हेतु इक दाम न खरचै, उपवन लक्ष बहावै।। ऐसा०।।

ज्यों गृह में संचे बहु अंध, त्यों बन हू में उपजावै।

अम्बर त्याग कहाय दिगम्बर, बाघम्बर तन छावै।। ऐसा०।।

आरंभ तज शठ यंत्र-मंत्र करि जनपै पूज्य कहावै।

धाम-वाम तज दासी राखे, बाहर मढ़ी बनावै।। ऐसा०।।

'समयसार की कुछ गाथाएँ'

गाथा : **वंदित्तु सव्वसिद्धेधुवमचलमणोपमं गइं पत्ते।**
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं।।1।।
जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठियं तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्म पदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं।।2।।
एयत्तणिच्छयगयो समयो सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंध कहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई।।3।।
तं एयत्त विहत्तं दायहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं।।5।।
णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव।।6।।

—प्रात: स्मरणीय पूज्य पं गणेशप्रसाद जी वर्णी विद्वज्जगत में पूर्ण सम्मान प्राप्त थे और श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र में सिरमौर थे। बडे से बडे विद्वान् भी आगम-संबंधी शंकाओं के निरसन हेतु उनके पादमूल में जाते रहे। समयसार की चर्चा तो उनका प्रमुख विषय था— यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय तो वे समयसार में हर दृष्टि से रच-पच गए थे।

गत दिनों उनके द्वारा स्व-हस्त लिखित 'समयसार' की गाथाओ में से कुछ गाथाओं की फोटो प्रति हमें देखने को मिली। ऊपर की गाथाएँ उसी से उद्धृत हैं। इन गाथाओं में वे शब्द रूप स्पष्ट रूप से अंकित हैं, जो समयसार की अनेक प्रतियों तथा अन्य प्राचीन आगमों में उपलब्ध हैं और जिन्हें आगम-भाषा-शोधक बनने की चाह में, कुछ लोग भाषा-बाह्य घोषित कर परम्परित मूल आगम-भाषा की अवहेलना में लगे हैं। पाठक विचारें कि क्या वर्णी जी ज्ञान में ऐसे लोगों से गए बीते थे? हमारी श्रद्धा में तो वे आगम के उत्कृष्ट ज्ञाता थे। इधर हम भी जो लिखते रहे हैं वह भी किसी एक स्थान से प्रकाशित किसी एक प्रति के आधार से नहीं अपितु विभिन्न आगम ग्रन्थो की भाषा के माध्यम से ही लिखते रहे हैं। जबकि पं गजाधर लाल जी व महावीर प्रसाद पांडया कलकत्ता, की प्रकाशित प्रतियो के अनुसरण करने का दावा करने वाले उसके शब्द रूपों का स्वय ही बहिष्कार कर रहे हैं। पाठक देखें— 'अनेकान्त' वर्ष 48 किरण 4 में पृष्ठ 16 पर प्रकाशित हमारा लेख।

—संपादक

दिगम्बर आगमतुल्य ग्रन्थों की भाषा
(संपादन और संशोधन की विवेचना)

—डॉ0 नन्दलाल जैन, रीवां

ऐसा माना जाता है कि किसी भी धर्म-तंत्र की विश्व जनीनता, लोकप्रियता एवं अनुकरणीयता के तीन आधार हैं— (i) उच्चकोटी के संस्थापक (ii) विश्वएकता के प्रतिपादक आगम, श्रुत या शास्त्र एवं (iii) तंत्र की सुसंगत श्रेष्ठता की धारणा। ये तीनों आधार एक दूसरे से क्रमश: संबंधित हैं। धर्म-संस्थापक तो अपने समय में धर्म-तंत्र का विकास करते हैं और बाद में उनके द्वारा कथित या उनके द्वारा लिखित आगमों के आधार पर ही भावी-अनुयायी पीढ़ियाँ और जन समुदाय तंत्र की प्राचीनता, उपयोगिता एवं श्रेष्ठता का मूल्यांकन करते हैं। जैनधर्म की विश्वजनीनता के प्रतिपादन मे भी ये तीनों तत्त्व कार्यकारी हैं। उसके संस्थापकों को सर्वज्ञता, वीतरागता एवं निर्दोषता की मान्यता ने उनके वचनों और भाषा में प्रामाणिकता एवं सर्वजनीनता दी है। इनकी निकटतम और किंचित सुदूरवर्ती शिष्यावली द्वारा रचित आगम उनकी ही वाणी माने जाते हैं और उनमें वेदों के समान पवित्रता एवं अपरिवर्तनीयता की धारणा कम से कम महावीर काल से तो प्रचलित ही है। ये आगम न केवल नैतिक सिद्धान्तों की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण हैं, अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। उनसे सिद्धान्तों एवं भाषा के मूलरूपों का पता चलता है। फिर विचार प्रवाह ज्ञानधारा तो निरंतर प्रवाहशील होती रहती है। ओशो[1] के समान कुछ विचारक तथ्यात्मकता को भ्रामक मानकर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की उपेक्षाकर **'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'** का राग गाते हैं, पर यह कर्णप्रिय तो हो सका है, लेकिन लोकप्रिय नहीं हो पाया है।

तीर्थकरों की देशना और उसकी भाषा [2, 3, 4, 5, 30]

जैनो की मान्यतानुसार तीर्थकर की देशना शब्द-तरंग रूप होती है जिसे संसार के समस्त प्राणी अपनी अपनी योग्यता के अनुसार ग्रहण करते है। इसकी व्यंजकता

अस्य मूलग्रंथस्य कर्तार : श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रथकर्तार:
श्री गणधरदेवास्तेषा वचोऽनुसार मासाद्य श्री. .....
आचार्येण विरचितम्.. . . .' के परिप्रेक्ष्य में दिगम्बर समाज में उक्त प्रकार की रचनाओं को भी आगम—मान्यता प्रचलित है।

—सपादक

इसकी अक्षरात्मकता को व्यक्त करती है। यह देशना सर्वभाषात्मक होती है, यह अठारह भाषा और सात सौ लघुभाषाओं का समग्र रूप होता है जिससे यह सभी प्राणियों के बोध गम्य होती है। अनेक भाषाओं में परिणमन करने की क्षमता तथा मुख्यत. मगध में देशित होने के कारण समवायांग[20] काव्यानुशासन, औपपातिक सूत्र, महापुराण आदि ग्रथों मे इसे अर्धमागधी कहा गया है। इसका मूल उत्पत्ति स्थान मगध (पूर्व) और शूरसेन (मथुरा पश्चिम) क्षेत्रों का मध्यवर्ती प्रदेश है जहाँ जैनों के अधिकांश तीर्थंकरो की जन्मस्थली एवं कर्मस्थली रही है। भ ऋषभदेव का उपदेश भी अर्ध मागधी मे माना जाता है। अत· कौशल के अयोध्या की भाषा भी अर्ध मागधी क्षेत्र में समाहित होती है। वस्तुत· तीर्थकरों के अनेक क्षेत्रों में विहार के कारण उनकी मागधी भाषा मे अनेक उप-भाषाओं के शब्दों का संमिश्रण हुआ होगा जिनमें विभिन्न प्राकृत भाषाओं का प्रभाव भी सम्मिलित है। यह 'अरिया' के 'अरिहा' के रूप में परिवर्तित होने से स्पष्ट है। इसीलिए यह प्राकृत भाषा जन सामान्य के लिए बोधगम्य मानी जाती रही है। फलत·—

अर्धमागधी = मागधी + शौरसेनी + अन्य भाषाएँ। इसीलिए इसमें अनेक प्राकृत जन-भाषाओं के लक्षण और शब्द पाए जाते हैं। इनका विवरण बालचन्द्र शास्त्री ने दिया है। फलत· इसे किसी एक विशिष्ट भाषा के नाम से सबोधित नहीं किया जा सकता।

अर्ध मागधी भाषा का स्वरूप : कथ्य भाषा-प्राकृत भाषा[3]

इस भाषा के संबंध में अनेक स्वदेशी और विदेशी भाषा विज्ञानियों ने विचार किया है। सभी का मत है कि सामान्यत भाषा दो प्रकार की होती है— (i) कथ्य जन भाषा और (ii) साहित्यिक भाषा। जब कोई जन बोली बृहत्समुदाय के द्वारा या राजनीतिक रूप से मान्य होती है तब वह भाषा कहलाती है। जब उस भाषा के माध्यम से साहित्य निर्माण होने लगता है, तब वही भाषा सहित्यिक भाषा बन जाती है। इसका स्वरूप जन बोली और भाषा से किंचित् परिष्कृत हो जाता है। प्रारम्भ में सभी भाषाएं जन-बोलियो के रूप मे कथ्य रूप में ही पाई जाती हैं और उनका कोई साहित्य भी नहीं होता। लेकिन उनके अनेक परवर्त्ती रूप साहित्य में पाए जाते है। इन रूपों के आधार पर ही जन भाषाओं का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। इन **जन भाषाओं का कोई व्याकरण भी नहीं होता। इन्हें ही 'प्राकृत भाषा' कहा जाता है।** हमारे तीर्थकरों ने इसी प्रकार की कथ्य जनभाषा में-प्राकृत भाषा मे देशनाए दी थीं। उनकी भाषा साहित्यिक नहीं थी, नहीं तो वह सर्वजन बोधगम्य कैसे हो सकती थी?

नमिसाधु ने इस प्राकृत की परिभाषा ही व्याकरणादि संस्कारों से रहित वचन व्यापार के रूप में की है। इस वचन व्यापार की भाषा ही प्राकृत भाषा है। उनके अनुसार अर्धमागधी भाषा ही 'प्राकृत भाषा' है जो देश-काल भेदों में समाहरित-सस्कारित होती हुई भिन्न-भिन्न रूपों मे व्यक्त हुई है। इसके प्रत्येक रूप क्षेत्र-विशेष मे सीमित होते हैं जिनके आधार पर इनकी संज्ञा होती है— मुण्डा, गोडी, मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि। इसी आधार पर कोशकार आप्टे [15] ने

भी प्राकृत भाषा का अर्थ स्वाभाविक या क्षेत्रीय जनभाषा बताया है। हरदेव बाहरी भी प्राकृत को मूल भाषा एवं अन्य भाषाओं की जननी मानते है। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र के मत के विपर्यास में, अधिकांश भाषा विज्ञानी यह स्वीकार करते हैं कि प्राकृतभाषा संस्कृत मूलक नहीं है। यह स्वतंत्र समानांतर एवं पूर्ववर्ती भाषा है। फलतः संबंधित जनभाषा को किसी भी साहित्यिक भाषा का प्रथमस्तर माना जाता है। वाक्पतिराज, राजशेखर, यहाँ तक कि पिशल के समान पश्चिमी विद्वानों ने इन जन भाषाओं को ही प्राकृत भाषा कहा है। सामान्यतः यह माना जाता है कि महावीर और उनके उत्तरवर्ती युग में बच्चे (प्रायः 15%) स्त्रियां (प्रायः 50%) और अशिक्षित (प्राय· 20%) वृद्ध व्यक्ति (प्रायः 5%) एवं छद्मवेशी साधु प्राकृत भाषा ही बोलते थे।

फलत उस समय प्राय· 90% प्रतिशत से अधिक लोग प्राकृत बोलते रहे होंगे। यह तथ्य नाटकों के कथोपकथनों से पुष्ट होता है। इससे उस समय की भीषण अशिक्षितता का भी अनुमान होता है।

प्राकृत भाषा का सामाजिक रूप और आगमों की भाषा : [2,3,4]

जब कोई भाषा साहित्यिक रूप ग्रहण करती है, तो उसके स्वरूप में परिष्करण एवं समाहरण की प्रक्रिया कुछ तेज या क्षीण होती है। जब यह एक ही सीमांत पर पहुंच जाती है, तब उसका मानकीकरण एवं व्याकरण–निबंधन होता है। इस प्रकार किसी भी जन भाषा या प्राकृत भाषा का साहित्यिक स्वरूप उसका द्वितीय स्तर कहा जाता है। प्राकृत भाषा में विशाल साहित्य है। यह विभिन्न क्षेत्रों में और युगो मे निर्मित हुआ है। इसका ऐतिहासिक एवं काल दृष्टि से अध्ययन करने वाले विद्वानों ने उस द्वितीय स्तर के विकास के तीन चरण बताए है। इनमें, तत्सम, तद्भव एवं देशी शब्दों का समाहार भी पाया जाता है। इसमें जन संपर्क, परिभ्रमण एवं दो या अधिक क्षेत्रों के सीमांत आदि कारणों से अनेक भाषाओं का प्रभाव समाहित हुआ है। इस समाहरण से ही उसमें बहुजन-बोधगम्यता आई है। इसने छन्दस भाषा को भी अतर्गर्भित किया है। इस विविध भाषिक समाहारों के कारण इसका व्याकरण बनाना अत्यंत कठिन कार्य है। संस्कृत में तो इस प्रकार का विविध-भाषा-समाहार बहुत सीमित था, अत· पाणिनी ने उसे 'उणादिगण' के द्वारा नियमित कर दिया। पर प्राकृत भाषा मे यह संभव नहीं था, अत प्रारंभ में न इसका व्याकरण बना और न ही उत्तरवर्ती काल में इसका कोई -उणादिगण' समकक्ष अपवाद प्रकरण ही।

यह पाया गया है कि साहित्यिक भाषा के तीन चरण उसके क्रमिक विकास के निरूपक हैं। यह स्पष्ट है कि इनमें व्याकरण निबद्धता उत्तरोत्तर वर्धमान होगी अर्थात् पहिलाचरण प्रायः व्याकरणातीत ही होगा। सभी भाषा-विज्ञानी यह मानते है कि जैसे आगमों (या प्राचीन आगम तुल्य ग्रंथों) की भाषा साहित्यिक प्राकृत के विकास के प्रथम चरण (600 BC-200AD) को निरुपित करती है।

वस्तुतः भाषिक-विकास के इतिहास की दृष्टि से प्राकृत भाषा प्राचीन एवं मध्यकालीन आर्यभाषा परिवार की सदस्य है। पौराणिक दृष्टि से इस युग में इसका

उद्भव कोशल-मगध देशीय भ. ऋषभ के समय से ओर ऐतिहासिक दृष्टि से मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति से भी पूर्ववर्ती काल से माना जा सकता है। यह पूर्व वैदिक भाषा है। और भ0 पार्श्वनाथ (875-775 B.C.) या 815-715B.C.) से पूर्ववर्ती तो मानी ही जा सकती है। इसे भ0 नेमनाथ के समयकालीन मानना ऐतिहासिक दृष्टि से किंचित् विचारणीय होगा क्योंकि शास्त्रों में भ. पार्श्वनाथ और भ. नेमनाथ का अंतरकाल प्राय · चौरासी हजार वर्ष बताया है और अभी इतिहासज्ञ 84800 ई पू के विषय में कोई तथ्य नहीं पा सके हैं। महाभारत युद्ध को इतिहासकारों ने अभी 1400-2000 ई.पू. तक अनुमानित किया है। (इस संबंध में अन्य मत भी है)। इस दृष्टि से भ0 नेमनाथ के संबंधी श्रीकृष्ण और महाभारत के कृष्ण की भी समकालिकता नहीं बैठती। महाभारत के कृष्ण का शूरसेन तो मान्य हो सकता है, पर जैनों के नेमनाथ के युग के शूरसेन की विश्वसनीयता विवादित लगती है। फिर, इतिहास के अभाव में, शूरसेन क्षेत्र मगध का अंग था या मगध शूरसेन का, यह बता पाना भी कठिन है। साथ ही क्या शूरसेन की बोली के समय मगध में कोई अपनी बोली या भाषा ही नहीं थी? फलत· मागधी या अर्धमागधी शूरसेन क्षेत्रीय भाषा से जन्मी, यह तर्कणा सुसंगत नहीं लगती[8]। इसलिए विभिन्न क्षेत्रीय प्राकृतों को समानान्तरत· विकासशील एवं बहिनो के समान मानना तो अनापत्तिजनक है, पर उन्हें मॉ-बेटी के समान मानना किंचित अतीचार लगता है। हॉ, यह मान्यता तो स्वाभाविक है कि राजनीतिक परिवर्तनों और बौद्धधर्म के उत्थान से जैनों की अर्धमागधी प्राकृत को शौरसेनी ने उत्तरकाल में प्रभावित किया हो जब मथुरा जैन केन्द्र बना हो। फिर भी यह मान्यता क्यों नहीं की जा सकती कि उसे महाराष्ट्री प्राकृत ने भी प्रभावित किया हो? मथुरा में ही तो लगभग 360 ई में स्कंदिलाचार्य की वाचना हुई थी। जिसमें श्वेताम्बर मान्य आगम प्रतिष्ठित किये गए थे। अस्तु, सभी परिस्थितियों पर विचार करने पर महावीर कालीन प्राकृत का रूप अर्धमागधी था क्योंकि इसमें मगध के अतिरिक्त अन्य भाषागत शब्दों का भी समाहरण था। यही मूल आगमों की भाषा मानी जाती है। इस भाषा का स्वरूप निर्धारण इस समय दिगम्बर साधु और विद्वत् वर्ग मे लगभग पिछले पन्द्रह वर्षो से मनोरंजक चर्चा का विषय बना हुआ है।

आगम तुल्य ग्रन्थों की भाषा का स्वरूप और शुद्ध शौरसेनीकरण

1978 के पूर्व डॉ ए एन उपाध्ये, हीरालाल जैन, फूलचन्द्र शास्त्री, बालचन्द्र शास्त्री, जगदीशचन्द्र जैन और नेमिचन्द्र शास्त्री आदि जैन-आगम-भाषा मर्मज्ञ विद्वानो ने दिगम्बर आगमों या आगमतुल्य ग्रन्थों के भाषिक अध्ययन से यह निष्कर्ष दिया था कि इनकी भाषा एक जातीय नहीं है, इनमें अन्य जातीय भाषाएँ भी गर्भित हैं। इसलिए इस भाषा को 'अर्धमागधी कहा गया है जहॉ इस शब्द का अर्थ' अर्ध मगधात्मकं अर्ध च सर्वभाषात्मक' माना गया है। इसे 'ऋषिभाषित' एवम् 'देवभाषा' भी कहा गया है। यह वेद भाषा के समान प्राचीन और पवित्र है। इसके विपर्यास में कुछ लोग इस भाषा को शौरसेनी मात्र मानते हैं। यदि इसे अर्धमागधी भी माना जाय, तो यह शौरसेनी की बेटी के समान मूलतः शौरसेनी

पर आधारित होगी। इस मान्यता में वर्तमान में वर्तमान के प्रवचन-प्रमुख, प्रवचन-परमेष्ठी एवं वाचना-प्रमुख भी प्रेरक है[7]। उनके मत का आधार शायद यह हो कि दिगम्बरों में तो जिनवाणी के आधार-भूत द्वादशांगी आगम का विस्मृति के गर्म में चले जाने के कारण लोप हो गया है। उसकी भाषा को शायद वे 'अर्धमागधी' मानने में कोई परेशानी अनुभव न करें। इस विस्मरण और विलोपन के तीन कारण स्पष्ट हैं— (i) आचारांग के समान वर्तमान उपलब्ध आगमों में सचेलमुक्ति की चर्चा (ii) अन्य आगमों में स्त्री-मुक्ति की चर्चाएँ, तथा कथाएँ तथा (iii) अनेक प्रकार की सहज प्रवृत्ति प्रदर्शित करने वाली पर, दिगम्बरों के मत से विकृत रूप प्रदर्शित करने वाली अनेक कथाऍ उनके अन्य कारण भी हो सकते है। अनेक विद्वानों ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि स्मृति-ह्रास की प्रक्रिया तो समय के साथ स्वभाविक है पर, जिन कल्पी दिगम्बरों में इसका ह्रास स्थविर कल्पियों की तुलना में काफी तेज हुआ है[8]। यह मत वीर-निर्वाण के बाद की 683 वर्ष की दिगम्बर परम्परा के अवलोकन से सत्यापित होता है। दिगम्बरों की इस आगम-विषयक स्मृति-ह्रास की तीव्र-दर और कारणों पर किसी भी विद्वान का मंथन दृष्टिगत नहीं हुआ है। इस कारण दिगम्बर परम्परा पर अनेक आरोप भी लगते रहते हैं। यह मौन आत्मर्थियों की सहज व्यक्तिवादिता का परिणाम ही माना जायगा।

वस्तुत· द्वादशांगी ही आगम हैं जो वीर निर्वाण के समय गणधरों के द्वारा सूत्र-ग्रथित होकर स्मृति ग्रथित हुए थे। यह काल महावीर निर्वाण के समकक्ष (527 या 468 ई पू) माना जाता है। यदि पार्श्वनाथ के समय की द्वादशांगी को भी माना जावे (जो वीर शासन के समय भी पूर्वों के स्मृत अंशों के रूप में जीवंत मानी गई) तो यह आगमकाल 777 या 718 ई. पूर्व तक भी माना जा सकता है। यह आगम अर्धमागधी प्राकृत में थे यह शास्त्रीय धारणा है। इसकी शास्त्रोल्लिखित प्रकृति भी स्पष्ट है। संभवत· आज की चर्चा इस लुप्त आगम की भाषा से संबंधित नहीं है। यह चर्चा उन ग्रंथों की भाषा से संबंधित है जो दिगंबरों में वर्तमान में आगम तो नहीं, आगमतुल्य के रूप में मान्य हैं। इनको आगम या परमागम कहना किंचित् विद्वत्-विचारणीय बात हो सकती है। पौराणिक अतिशयोक्तियों के विश्लेषण के युग में बीसवीं सदी को ये अतिरंजनाऍ हमारे वर्तमान को भूत बना रही हैं। ये कह रही हैं कि हम वर्तमान जीवन को भूतकालीन जीवंतता देना चाहते हैं। ये शायद ही संभव हो।

इन ग्रंथों में कसाय पाहुड, षट्खण्डागम, कुंदकुद की ग्रंथावली, भगवती आराधना मूलाचार आदि आते हैं। इनका रचनाकाल अर्थत· अनादि है पर भाषात्मकत· यह 156-215 ई के आसपास आता है। यह काल महावीर से 683 वर्ष बाद ही आता है। (अनेक लोग इस काल को 683 वर्ष के अंतर्गत भी मानते हैं, पर यह श्रद्धामात्र लगता है) महावीरोत्तर सात-सौ वर्षों में अर्धमागधी प्राकृत में क्या परिवर्धन-संवर्धन हुए यह विवेच्य विषय अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस विवेचन से ही इनकी भाषा की प्रकृति निर्धारित करना संभव हो सकेगा।

भाषा-विज्ञानियों के अनुसार[8], इस समय-सीमा में प्राकृत भाषा अपने विकास के द्वितीयस्तर के तीन चरणों में से प्रथम चरण पर रही है जैसा कि पहिले कहा गया है। इस चरण में प्राकृत हमें अनेक रूपों में मिलती है– शिलालेखी,प्राकृत, जातकों की पालि प्राकृत, जैनागमों आदि आगम-तुल्य ग्रन्थों की प्राकृत एवं नाटकों की प्राकृत। यह भाषा कथ्य के समान प्राचीन नहीं है। समय के साथ उसके रूप, ध्वनि, शब्द और अर्थ निश्चित हुए हैं। जिससे उसकी नवीन प्रकृति का अनुमान लगाया जाता है। इससे प्राकृत और साहित्यिक प्राकृत में अन्तर भी प्रकट होता है। और एक चक्रीय भाषिक प्रक्रिया का अनुमान भी लगता है–

प्राकृत भाषा–साहित्यिक प्राकृत–नयी जनभाषा– नयी साहित्यिक भाषा नयी जनभाषा प्राकृत..........

यह प्रक्रिया ही भाषा के विकास के इतिहास को निरुपित करती है। इस प्रथम चरण की समय सीमा में प्राकृत उपभाषाओं में भेद प्रकट नहीं हुए थे। भाषा से एकरूपता एवं अर्धमागधी स्वरूपता बनी रही। फिर भी वर्तमान आगम-तुल्य ग्रंथों की अर्धमागधी के स्वरूप में महावीर कालीन सर्वभाषामय स्वरूप की तुलना में कुछ परिवर्तन तो आया ही होगा। अब इसमें मुख्यत· मागधी और शौरसेनी का मिश्रण है। फिर भी, **यह जन भाषा है, व्याकरणातीत भाषा है– परम्परित भाषा है।** यह तत्कालीन बहुजन-बोधगम्य भाषा है। उत्तरवर्ती युग में जब राजनीति या अन्य कारणों से मगध में जैनधर्म का ह्रास हुआ और मथुरा जैनों का केन्द्र बना, तो यह स्वाभाविक था कि अस्मिता के कारण इसका नामरूप परिवर्तन हो। इसमें अब शौरसेनी की प्रकृति की अधिकता समाहित होने लगी। फिर भी यह मिश्रित भाषा तो रही है। शिरीन रत्नागर[9] ने भी दो भाषाओं के मिश्रण से उत्पन्न नयी भाषा के विकास के कारणों की छानबीन में इसे मिश्रित भाषा ही बताया है। इसको पश्चिमी भाषा-विज्ञानियों ने 'जैन शौरसेनी' इसीलिए कहा है कि यह शुद्ध शौरसेनी नहीं हैं। 'जैन' शब्द लगने से उसमें मागधी या अर्धमागधी का समाहार स्वयमेव आपतित है। इसकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं[10]। चूंकि यह शुद्ध शौरसेनी नहीं है, इसलिए कुछ विद्वान 1979 में ही 'रयणसार' के नव संस्करण के पुरोवाक् में यह लिखने का साहस कर सके कि मुद्रित कुंदकुद साहित्य की वर्तमान भाषा अत्यंत भ्रष्ट एवं अशुद्ध है। यह बात उनके सभी ग्रंथों के बारे मे है।' वे यह भी कहते हैं कि यह स्थिति भाषा ज्ञान की कमी के कारण हुई है। यह 'जैन 'शौरसेनी' के सही रूप को न समझने का परिणाम है। फलत उन्होंने 'रयणसार' 'नियमसार' और 'समयसार' आदि ग्रन्थों के भाषिकत· शुद्ध शौरसेनीकरण की प्रक्रिया अपनाई है[11]।

आगम-तुल्य ग्रंथो का संपादन[7]

इस शौरसेनीकरण की प्रक्रिया का नाम 'संपादन' रखा गया है। इसमें 'पुरोवाक्' 'मुन्नुडि' हो गया है। समयसार के संपादन का आधार 22 मुद्रित और 35 हस्तलिखित प्रतियों में से 1543 ई (1465शक) की प्रति को बनाया गया है। जो समालोचकों को उपलब्ध नहीं कराई जा सकती। यही नहीं, 1993 में तो यह स्थिति

रही कि संपादित समयसार (1978) को उपलब्ध कराने में भी असमर्थता रही। हॉ उसे श्रेष्ठीजनों के विवाह में वितरण की समर्थता अवश्य देखी गई। इस प्रक्रिया में सामान्य या 'विद्यार्थी संस्करण' की मुहर लगाकर सम्पादन के सर्वमान्य टिप्पण देने जैसी परंपरा के अपनाने के प्रति तीव्र अरुचि स्पष्ट दिखती है। इस परंपरा व्याघात को, सुझावों के बावजूद भी, नए संस्करण में भी पोषित किया गया है। इस प्रकरण में पूर्व-प्रकाशित 'समयसारों' में पाए गए (और अब संपादक-चयनित शब्द रूपों का समर्थन महत्त्व नहीं रखता क्योंकि वे भाषिक आधार पर नहीं, अपितु अन्यत्र उपलब्धता या अर्थ-स्पष्टता के आधार पर दिए गए हैं। उन दिनों शौरसेनी भाषा विज्ञानी ही कहॉ थे?[12]

संपादन की इस प्रक्रिया में कुंदकुंद साहित्य की प्रारंभिक उपलब्ध पाण्डुलिपियों की भाषा में विरूपता आई है। पहले मूल का अर्थ करने में ही भिन्नता देखी जाती थी अब मूलशब्द की भिन्नता भी की जा रही है। यह कहना सुसंगत नहीं लगता कि जैन-सिद्धान्त अर्थ की एक रूपता पर आधारित है और किसी के शब्द-भिन्न-करण से उस पर कोई असर नहीं पडता। एवंभूतनय की दृष्टि से यह मान्यता मेल नहीं खाती। फिर, शब्द-भेद ही तो प्राचीन समय से ही अर्थ-भेद और स्थूल से सूक्ष्म या विपर्यय दिशा में जाने का कारण रहा है। इसी के कारण जैन-संघ का घटकीकरण हुआ। क्या यह शौरसेनीकरण भी एक नये घटक का जनक सिद्ध होगा?

पुनश्च, संपादित संस्करण के सामान्य अवलोकन से यह पता चलता है कि भाषिक एकरूपता के नाम पर व्याकरण एवं छंद के आधार पर उचित एवं ग्रन्थकार अभिप्रेत जो शौरसेनीकरण हो रहा है, वह पूर्ण नहीं है, आदर्श नहीं है, स्वैच्छिक है। इसके अनेक उदाहरण पद्मचन्द शास्त्री ने अपने लेखों में दिये हैं।[13] उदाहरणार्थ 'पुग्गल' को तो 'पोग्गल' किया गया है पर 'ओत्संयोगे' का नियम 'चुविकज्ज, वुच्चदि' आदि पर लागू नहीं किया गया है। फलत: इस स्वैच्छिकता का आधार अज्ञात है। क्या ओशो के समान संपादक महोदय भी कुंदकुंद की रूह से ज्वेएंट-माध्यम से शब्द विवेक प्राप्त कर लेते हैं? साथ ही संपादन में प्राकृत में 'बहुलम्', को तो प्राय उपेक्षणीय ही मान लिया गया है। 'मुन्नडि' में प्राकृत भाषा के क्रमिक विकास मे कुंदकुद के ग्रन्थों को इतिहास और काल की दृष्टि से सहायक[14] मानते हुए भी सपादक उसे उत्तरवर्ती व्याकरणो के आधार पर संपादित करते हुए क्या अपने ही कथ्य के विरोध में नहीं जा रहे हैं? और क्या संस्कृत निबद्ध प्राकृत व्याकरण व्याकरणातीत जनभाषा साहित्य पर लागू किए जा सकते हैं?

यह शौरसेनीकरण मुख्यत. बांरहवी सदी के आचार्य के प्राकृत व्याकरण के आधार पर किया गया लगता है। यह आश्चर्य है कि पहिली दूसरी सदी के ग्रन्थों का भाषिक स्वरूप बारहवीं सदी के ग्रन्थों के आधार पर स्थिर किया जावे? यदि कुंदकुद के किसी पूर्वकालीन व्याकरण के आधार पर ऐसा किया जावे, तो यह प्रकरण अधिक विचारणीय हो सकता था।

वर्तमान संपादन से उत्पन्न प्रश्न चिन्ह :

कुंदकुंद के ग्रंथों के संपादन के नाम से अर्धमागधी के शुद्ध शौरसेनीकरण की भाषिक परिवर्तन की प्रक्रिया ने विद्वत् जगत में बौद्धिक विक्षोभ उत्पन्न किया है। संभवतः यह 1980 में प्रारंभ में सामान्य था, पर अब यह अप-सामान्य होता लगता है। इस प्रक्रिया ने अनेक प्रश्नों और समस्याओं को जन्म दिया है जिनके समाधन की अपेक्षा न केवल विद्वत् जन को अभीष्ट है। अपितु श्रद्धालु जगत भी अंतरंग से उनकी अपेक्षा करता हैं। इस दृष्टि से निम्न बिन्दु सामने आते हैं—

1. भाषिक परिवर्तन का अधिकार : जैनधर्म नैतिकता प्रधान धर्म है। इसके कुछ सिद्धान्त होते है। संपादन, संशोधन और प्रकाशन के भी कुछ सिद्धांत होते है। इसके अनुसार, मूल लेखक से अनुज्ञा अथवा उसके अभाव में उसकी हस्तलिखित प्रति का आधार आवश्यक है। दुर्भाग्य से ये दोनों ही स्थितियां वर्तमान प्रकरण में नहीं हैं। फलतः भाषिक परिवर्तन की प्रक्रिया मूलतः अनैतिक है। इसमें परिवर्तन का अधिकार सामान्यतः किसी को नहीं है। हॉ, बीसवीं सदी में इसके अपवाद देखे जा सकते हैं। इसमें दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् द्वारा प्रकाशित 'महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' बिना प्रकाशक की अनुज्ञा तो क्या, उसके बिना जाने ही किसी अन्य संस्था ने प्रकाशित कर दी।[16] अभी 'हिमालय में दिगम्बर मुनि' की स्थिति भी ऐसी ही बनी है।[17] ऐसा लगता है कि दक्षिण देश उत्तर से किंचित् अधिक अच्छा है, जहॉ 'रीयल्टी' के पुनः प्रकाशन के लिए ज्वालामालिनी ट्रस्ट ने विधिवत् अनुज्ञा ली।[18] जब पुनः प्रकाशन के लिए विधिवत् अनुज्ञा अपेक्षित है फिर संपादन और सशोधन की तो बात ही क्या? इसमें मानसिक मंगलाचरण के समान मानसिक अनुज्ञा की धारणा ही बचाव कर सकती है। दूसरे प्राकृत में 'बहुलम्' के आधार पर जब उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने यह माना है कि प्राकृत भाषा (जनभाषा) में एक ही शब्द के अनेक रूप होते हैं। 'कुंदकुद शब्द कोष' से यह बात स्पष्ट से जानी जाती है[19]। इस स्थिति में इन रूपों में एकरूपता लाने की प्रक्रिया मूल लेखन की भावना के प्रतिकूल है। आगम तुल्य ग्रंथों के प्रकरण में तो यह और भी पुण्यक्षयी कार्य है क्योंकि हम उन्हें पवित्र मानते हैं। शब्दो का हेरफेर उन्हे अपवित्र बनाता है। इसके कारण उनके प्रति श्रद्धा में डिगन संभावित है। इन सभी दृष्टियों से यह कार्य नैतिकतः अनधिकार चेष्टा है। फलतः आगमतुल्य ग्रथो मे भौतिक परिवर्तन का अधिकारी कौन है, यह प्रश्न विचारणीय बन गया है।

2. विरूपण का प्रभाव : आगम तुल्य ग्रंथों के शाब्दिक शौरसेनीकरण से उनके मूलरूप का विरुपण होता है यह स्पष्ट है। इस विरूपण से—

(i) आगम भाषा की प्राचीनता समाप्त होती है।
(ii) इससे उनमें श्रद्धाभाव का ह्रास होता है।
(iii) विरूपित ग्रंथों की प्रामाणिकता में संदेह उत्पन्न होता है।
(iv) अर्थान्तर न्यास की संभावना बढ़ती है।
(v) घटकवाद को प्रोत्साहन मिलता है।

(vi) विरूपण से आगमों की ऐतिहासिकता पुनर्विचारिणी बनती है और प्राकृत के भाषिक विकास के सूत्रों का लोप होता हैं

(vii) विरूपण आगम तुल्य ग्रंथों को उत्तरवर्ती काल का सिद्ध करेगा। वैसे भी अनेक शोधक इन ग्रंथों को पांचवी-छठी सदी से भी उत्तरवर्ती होने की बात सिद्ध करने के तर्क देने लगे है[21]। यह विरूपण इन तर्कों को बलवान बनाएगा। इसलिए अब तक किसी भी दिगंबर विद्वान ने इन ग्रंथों मे व्याकरणीयता लाने का साहस नहीं दिखाया। इस स्थिति को समरस बनाए रखने के लिए यह अधिक अच्छा होता कि पाठ भेदों के टिप्पण दे दिए जाते। इस विरूपण की स्वैच्छिकता भी सामान्यजन की समझ से परे है। इसका उद्देश्य गहनत· विचारणीय है।

3. शब्दभेद से अर्थ भेद न होने की मान्यता :

यदि शब्द भेद एवं उपरोक्त प्रकार के विरूपण (या एकरूपता) से अर्थ भेद न होने की बात स्वीकार की जावे, तो इस प्रक्रिया का अर्थ ही कुछ नहीं होता। इसके लिए प्रयत्न ही व्यर्थ है। जब शब्दैक्य से अर्थ भेद हो सकता है और बीसवीं सदी में भी नया संप्रदाय (भेद विज्ञानी) पनप सकता है, तब शब्द भेद से अर्थ-भेद तो कभी भी संभावित है।

4. प्राकृत भाषा के स्वरूप की हानि :

प्राकृत भाषा चाहे वह अर्धमागधी हो या शौरसेनी, जन-भाषा है और उसका प्रथम स्तर का साहित्य व्याकरणातीत युग की दैन है। जनभाषा के स्वरूप के आधार पर उसकी सहज-बोध-गम्यता के लिए उसमें बहुरूपता अनिवार्य है। यदि इसे व्याकरण-निबद्ध या संशोधित किया जाता हे, तो उसके स्वरूप की और ऐतिहासिकता की हानि होती है। क्या हम उसके सर्व-जन-बोध-गम्य स्वरूप की शास्त्रीय मान्यता का विलोपन चाहते है?

5. दिगम्बर आगमतुल्य ग्रंथों की भाषात्मक प्रामाणिकता की हानि :

यह माना जाता है कि दिगम्बरों के आगमतुल्यग्रंथ पाँच, छह ही हैं। अन्य ग्रंथ तो पर्याप्त उत्तरवर्ती हैं। इनकी रचना प्रथम से तृतीय सदी के बीच लगभग सौ वर्षो में हुई है। यह मान्यता विशेष आपत्तिजनक नहीं होनी चाहिए। इनकी भाषा के विषय में डा खडबडी ने षट्खण्डागम के संदर्भ में उसे बडी मात्रा में शौरसेनी भागक बताया है [22], शुद्ध शौरसेनी नहीं। उन्होंने उसके शौरसेनी-अंग के गहन-अध्ययन का सुझाव भी दिया है। डॉ राजाराम भी यह मानते हैं कि– शिलालेखों और अभिलेखों में क्षेत्रीय प्रभाव मिश्रित हुए है[23]। फलत· उसका व्याकरण निबद्ध स्वरूप कैसे माना जा सकता है? भाषा-विज्ञानी तो उन प्राचीन अभिलेखों की प्राकृतों में शौरसेनी का अल्पांश ही मानते हैं[24]। यही स्थिति कुंदकुंद के साहित्य की भी है। यदि उपलब्ध कुंदकुंद साहित्य की भाषा अत्यंत भ्रष्ट और अशुद्ध है तो तत्कालीन अन्य ग्रंथो की भाषा भी तथैव संभावित है। इसके अनेक शब्दों को 'खोटा सिक्का' तक कहा गया है। इससे जिस प्रकार कुंदकुंद के ग्रंथों की स्थिति

बन रही है, उसी प्रकार समस्त दिगम्बर आगमतुल्य ग्रंथों की स्थिति भी संकटपूर्ण, अप्रामाणिक और अस्थायी हो जायगी। इससे जैन-संस्कृति की दीर्घजीविता का एक आधार भी समाप्त हो जायेगा। डॉ. गोकुलचन्द्र जैन[25], के.आर चन्द्रा[26], अजितप्रसाद जैन[27], फूलचन्द्र शास्त्री, डॉ एम.ए. ढाकी[21] और जौहरीमल पारख आदि विद्वानों ने भी इसी प्रकार के मत समय-समय पर लिखित या व्यक्तिगत रूप में प्रस्तुत किए हैं। इन ग्रंथों की भाषात्मक अशुद्धता की धारणा, फलत: पुनर्विचार चाहती है।

6. प्राकृत के शब्द रूपों में अनेक प्राकृतों का समाहार :

यह पाया गया है कि भविस्सदि, विज्जाणंद, थुदि, कोंडकुंड, आयरिय, णमो, आइरियाणं, लोए, साहूणं, अरहंताणं आदि शब्दों में कुछ अंश महाराष्ट्री प्राकृत व्याकरण से सिद्ध होते हैं और कुछ अंश शौरसेनी व्याकरण से। फलतः शौरसेनी के अनेक शब्द मिश्रित व्युत्पत्ति वाले हैं। ऐसी स्थिति में शब्दों की प्रकृति को मात्र शौरेसनी मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता। उन पर महाराष्ट्री और मागधी का भी प्रभाव है। अभी चन्द्रा ने 'णं नन्वर्थे' सूत्र को मागधी और शौरसेनी पर लागू होने के प्रमाण दिए हैं। चूंकि सामान्यत: प्राकृत भाषाओं का मूल-स्रोत एकसा ही रहा है, अतः उनमें इस प्रकार के समाहार स्वाभाविक हैं। क्षेत्र विशेषों के कारण उनके ध्वनि रूप तथा अन्य रूपों में परिवर्तन भी स्वाभाविक है। इन अनेक रूपों की प्रामाणिकता असंदिग्ध है। प्राचीन साहित्य के परिप्रेक्ष्य में विशिष्ट शब्दों की वरीयता की दृष्टि से उनका संपादन, संशोधन फलत: युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

7. दि. आगमतुल्य ग्रंथों के रचयिता आचार्यो का शौरसेनी ज्ञान :

अभी तक मुख्य आगमतुल्य ग्रंथों के रचयिता प्रमुख आचार्यों का जो जीवन वृत्त अनुमानित है, उसमें कोई भी अपने जीवन काल में शूरसेन प्रदेश में नहीं जन्मा या रहा प्रतीत होता है। कुछ दक्षिण में रहे कुछ गुजरात और वर्तमान महाराष्ट्र में। इन प्रदेशों की जन-भाषा शौरसेनी नहीं रही है। फिर भी, उनका शौरसेनी का ज्ञान व्याकरण-निबद्ध था यह कल्पना व्याकरणातीत युग में किंचित दुरूह सी लगती है। हा, उन्हें स्मृति परंपरा से अवश्य शौरसेनी-बहुल अर्धमागधी रूप जनभाषा का ज्ञान प्राप्त था जो संभवतः श्रवणबेलगोल परंपरा से मिला हो। वही इनके ग्रन्थों की भाषा रही। इसके शुद्ध-शौरसेनी होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके साथ ही यह धारणा भी बलवती नहीं लगती कि शौरसेनी प्राकृत का इतना प्रचार था कि वह कलिंग, गुजरात, दक्षिण व मगध प्रदेश में जन-भाषा बन गई हो। हमारे तीर्थंकर भी मगध, कौशल, काशी, कुरुजांगल व द्वारावती जैसे क्षेत्रों में जन्मे हैं जहाँ की भाषा भी मूलतः शौरसेनी कभी नहीं रही। यदि ऐसा होता तो इन सभी देशों में आज भी शौरसेनी भाषा-भाषियों की बहुलता होती। फलत: अन्य क्षेत्रों में यह साधु या विद्वत्-गण्य भाषा रही होगी। जो स्थानीय बोलियों से भी प्रभावित रही होगी। **'आठ कोस पर बानी'** की लौकोक्ति में पर्याप्त सत्यता है। हाँ, यह संभव है कि इसे मिश्रित रूप में कहीं कहीं राजभाषा के रूप में मान्यता

मिली होगी जिससे इसके प्राचीन शब्दरूप अनेक प्राचीन शिलालेखों में पाए जाते हैं। मुझे लगता है कि कुछ लेखकों ने अति उत्साह में इस भाषा की व्यापकता के संबंध में भ्रान्ति उत्पन्न करने का यत्न किया है। इसका एक रूप आगम-तुल्य ग्रथों की भाषा के 'जैन शौरसेनी के बदले 'शुद्ध-शौरसेनी' की भाषिक धारणा के रूप में 1994 से प्रकट हुआ है। इसे विचारों का विकास कहें या जैन धर्म का दुर्भाग्य? यह भयंकर स्थिति है। इस दृष्टि से एक लेखक की नामकरण-संबंधी वैचारिक अनापत्ति अनावश्यक है[26]।

8. दि. आगमतुल्य ग्रथों की पवित्रता की धारणा में हानि :

किसी भी धर्म तंत्र की प्रतिष्ठा एवं दीर्घजीविता के लिए उसकी प्राचीनता एवं उसके धर्म-ग्रथों की पवित्रता प्रमुख कारक माने जाते हैं। धर्म ग्रंथों की पवित्रता और प्रामाणिकता के आधार अनेक तंत्रों में उनकी अपौरुषेयता, ईश्वरदिष्टता या परामानवीय दौत्य माना गया है। पर, जैन-तंत्र में इसका आधार स्वानुभूति एवं आत्म-साक्षात्कार माना जाता है। इस साक्षात्कार के अर्थ और शब्द दोनों समाहित होते हैं। यदि आत्म-साक्षात्कार को हमने प्रामाणिक माना है तो अर्थ और शब्द रुपो को भी प्रामाणिक मानना अनिवार्य है। इनकी एक परंपरा होती है, उसका संरक्षण दीर्घजीविता का प्रमुख लक्षण है। हम वह परंपरा न मानें यह एक अलग बात है। पर, परंपरा में परिवर्तन उसकी पवित्रता में व्याघात है। क्या हम अपने आगमतुल्य ग्रन्थों के रूप में प्रस्फुरित जिनवाणी की जन-हित-कारणी पवित्र परंपरा को व्याकरणीकरण से आघात नहीं पहुंचा रहे हैं? हमारी दैनंदिन जिनवाणी की स्तुति का अर्थ ही तब क्या रह जाता है।?

9. 'दिगम्बर-आगम-तुल्य ग्रंथ तीर्थंकर वाणी की परंपरा के नहीं हैं' की मिथ्या-धारणा का संपोषण :

अपने आगम-तुल्य ग्रंथों की भाषा के शौरसेनीकरण से और शौरसेनी को अर्धमागधी के समानान्तर न मानने से इस मिथ्याधारणा को भी बल मिलता है कि दिगम्बर ग्रंथ तीर्थकर और गणधर की वाणी के रूप में मान्य नहीं किए जा सकते क्योंकि उनकी वाणी तो अर्धमागधी में खिरती रही और शौरसेनी परवर्ती है। इसलिए उनमे प्रामाणिकता की वह डिग्री नहीं है जो अर्धमागधी में रचित ग्रंथों मे है। ये ग्रन्थ परवर्ती तो माने ही जाते है। इस धारणा से दिगम्बरत्व की जिनकल्पी शाखा स्थविर कल्पियो से उत्तरवर्ती सिद्ध होती है। क्या हमें यह स्वीकार्य है? हम तो जिनकल्पी दिगम्बरत्व को ही मूल जैनधर्म मानते है।

10. उचित और ग्रंथकार-अभिप्रेत की धारणा का परिज्ञान :

इस संपादन को पाठ-संशोधन भी कहा गया है। इसका आधार संपादक के व्यक्तिगत औचित्य की धारणा, प्रसंग तथा उनके स्वयं के द्वारा ग्रंथकार के अभिप्रेत (भूतकालीन) का अनुमान लगाया गया है इससे आदर्श प्रति के आधार की नीति तो समाप्त होती ही है, संपादक की स्वयं की अनुमेयत्व क्षमता पर भी प्रश्नचिन्ह लगता है क्यों कि इसी तत्त्व पर तो विद्वानों में मतभेद दृष्टिगोचर हुआ है।

परंपरितवाणी की प्राथमिकता के आधार के रूप में श्रुतकेवलिभणितत्व निर्दोषता, परस्पर अविरोधिता एवं तर्क-संगतता (दृष्ट-इष्ट-अविरोधिता) तथा सर्वजनहितकारिता माने गए हैं [29]। इनमें से कोई भी तत्त्व प्रस्तुत संपादन में नहीं है अन्यथा इतना ऊहापोह, धमकियां और सार्वजनिक उद्घोषणाएँ ही क्यों होती? इससे इस प्रक्रिया के आधार ही संदेह के घेरे में आगए हैं। फलतः यह सारी प्रक्रिया ही एक प्रच्छन्न मनोवृत्ति या महत्त्वाकांक्षा की प्रतीक लगती है।

11. विद्वानों की सम्मतियां

कुंदकुंद साहित्य के संपादन की प्रक्रिया के चालु होने पर इसकी वैधता पर प्रश्नचिन्ह लगे थे। उस समय अनेक साधुओं, संस्थाओं, विद्वानों एवं श्रावकों ने इन प्रश्न चिन्हों का समर्थन किया था एवं इस प्रक्रिया के विरोध में अपने तर्क-संगत वक्तव्य दिए थे। इनमें से कुछ ने अपने मतों में संशोधन किया है, इसका कारण अनुमेय है। इसे विचार-मंथन की प्रक्रिया का परिणाम भी कहा जा सकता है। इसके वावजूद भी, अधिकांश के मन में यह आवेश तो प्रत्येक अवसर पर दृष्टिगोचर होता ही है कि यह प्रक्रिया ठीक नहीं है। श्रद्धालु तो साधुवेश का आदर कर मौन रहते हैं पर, विद्वान के ऊपर तो संस्कृति-सरंक्षण और संवर्धन का दायित्व है। वह कैसे मौन रहे? उसने जीवंत स्वामी की प्रतिमा की पूज्यता' एव 'एलाचार्य' प्रकरण का भी विरोध किया। विद्वत् जगत का मौन 'णमोकारमंत्र के 'अरिहंताणं' पद की एकान्तवादिता पर भी टूटा है, यह वैयाकरणों (चंड, हेमचन्द्र, धबलादि टीकाएँ) के मत के विरोध में भी था इस मौन भंग का यह प्रभाव पडा कि 'अरिहंताणं' के सभी रूपों की प्रामाणिकता मानी गई। हॉ, वरीयता तो व्यक्तिगत तत्त्व है। यही नहीं, एक भारतवर्षीय जैन संस्था ने इस आगम-संरक्षिणी वृत्ति के पुरोधा को सार्वजनिक रूप से संमानित भी किया। दिल्ली में भी उसके साहस की अनुमोदना की गई। इस प्रक्रिया के संबंध में व्यक्तिगत चर्चाओं में जो कुछ श्रवणगोचर होता है वह भयकर मानसिक आधात उत्पन्न करता है।

12. सामान्यजन और विद्वज्जन की सहिष्णुता को आघात :

कुंदकुंद के ग्रंथों के संपादन की दृष्टि के पीछे आगम तुल्य ग्रंथों की भाषा का भ्रष्ट एवं अशुद्ध मानना एवं उनके आचार्यो के भाषा-ज्ञान के प्रतिसदेह करने की धारणा से जिनवाणी और आचार्यो -दोनो की ही अवमानना रही है। इस धारणा ने संपादक-मान्य जयसेनाचार्य के शब्दरूपों को भी अमान्य कराया है। वे तो ग्यारहवीं सदी के ही प्राकृतज्ञ थे। इसे मौन होकर सहना जैनो की अनेकान्तवादिता ने ही सिखाया है? फिर भी, इस दृष्टि से एवं कथनों से वे आहत एवं आवेशित तो हुए ही हैं। पर, यह शुभ आवेश है और इसका सुफल जिनवाणी के सहज रूप में बनाए रखने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने में सहायक होगा।

13. समालोचनाओं में भाषा का संयमन :—

संपादन कार्य या किसी भी कृति की समालोचनाओं या उनका समाधान देने में भाषा का संयम अत्यन्त प्रभावी होता है। पर एंसा प्रतीत होता है कि संपादक

की समाधान भाषा उत्तरापेक्षी रही है। आचार्यों की परोक्ष अवमानना उनके ज्ञान और भाषा के प्रति अशोभन शब्द, सामान्य सार्वजनिक और पत्राचारी चेतावनियाँ आदि भाषा के असंयम को व्यक्त करते हैं। एक ओर का भाषा असंयम दूसरे पक्षों को भी प्रभावित करता है। भाषा का यह असंयम श्रद्धालुओं को भी कष्ट कर सिद्ध हुआ है। क्या यह असंयम विद्वान् जनों या साधुजनों को शोभा देता है? यह सचमुच ही दुर्भाग्य की बात है कि कुछ समयपूर्व कुंदकुंद के नवोदित भेद विज्ञानियों ने कुछ समयतक अपने विचारों की असंयमित भाषा से समाज में रौद्ररूप के दर्शन कराए थे और अब फिर कुंदकुंद आए हैं अपने साहित्य की भाषा के माध्यम से, जो असंयम फैलाने में निमित्त कारण बन रहे हैं। इसे अध्यात्मवादी कुन्दकुन्द का दुर्भाग्य कहा जावे या उसके अनुयायियों का, जो समाज को आध्यात्मिकता एकीकृत करने के माध्यम से उसे विशृंखलित करने की दिशा में अग्रणी बन रहा है।

आगम तुल्य ग्रंथों की प्रतिष्ठा हेतु कुछ सुझाव

उपरोक्त अनेक प्रकार के चिन्तनीय प्रश्न चिन्हों एवं अप्रत्याशित रूप से जैन-तंत्र के लिए दूर दृष्टि से अहितकारी संभावनाओं के परिप्रेक्ष्य में आगम तुल्य ग्रंथों के शौरसेनी आधारित सपादन का उपक्रम गहनपुनर्विचार चाहता है। इसके लिए कुछ आधार भूत संपादन-धारणाओं को परिवर्धित करना होगा। इनमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण हैं–

1 हमारे परम्परित आगम तुल्य ग्रंथ जिस भाषिक बहुरूपता में हैं, उन्हें प्रामाणिक मानना चाहिए।

2. हमारे प्रकाशित आगम तुल्य ग्रथों की भाषा की भ्रष्टता एवं अशुद्धता तथा उनके रचयिता आचार्यो में भाषा ज्ञान की अल्पता की धारणाएँ, अयथार्थ होने के कारण, छोडनी चहिए।

3 प्राकृत भाषा जनभाषा रही है। उसके मागधी, शौरसेनी और अर्ध मागधी आदि रूपो को क्षेत्रीय मानना चाहिए। हॉ, उनकी अन्योन्य प्रभाविता एक सहज तथ्य है। प्रत्येक जनभाषा में अनेक भाषाओं एवं उपभाषाओं के शब्दों का समाहार होता है। इसीलिए इनमें एक ही अर्थ के द्योतक शब्दों के अनेक रूप होते है। इसलिए इसका कोई स्वतंत्र एवं विलगित व्याकरण नहीं हो सकता। अत इसके प्रथम स्तर के जनभाषाधारित साहित्य को व्याकरणातीत मानना चाहिए। दिगम्बरों के आगमतुल्य प्राचीन ग्रंथो की भाषा दूसरी-तीसरी सदी की शौरसेनी गर्भित अर्धमागधी प्राकृत है। इसे स्वीक़ार करने मे अनापत्ति होनी चहिए।

4 व्याकरणातीत भाषा और साहित्य ही सर्वजन या बहुजन (90: और उससे अधिक) बोधगम्य हो सकता है। व्याकरण-निबद्ध भाषा तो अल्प-जन बोधगम्य होती है। यह तथ्य हम किसी भाषा-हिन्दी साहित्य और उसकी अनेक प्रांतीय/क्षेत्रीय बोलियों के आधार पर भी अनुमानित कर सकते है।

5. व्याकरणातीत जन भाषाओं को उत्तरवर्ती व्याकरण-निबद्ध करने की प्रक्रिया

जन-भाषाओं के विकास के इतिहास के परिज्ञान में व्याघात करती है। साथ ही, इन जन-भाषाओं के विकास के समय का कोई प्राचीन व्याकरण उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर उनकी भाषा नियंत्रित की जा सके। इस दृष्टि से कोई भी शब्दरूप आगम-बाह्य नहीं हो सकता।

6. आगमतुल्य ग्रंथों में एक ही अर्थवाची अनेक शब्दरुपों को यथावत् रहने देनाचाहिए। किसी को भी संपादन-बाह्य या अमान्य नहीं करना चाहिए। चूंकि आगमों में सभी प्रकार के शब्दरूप पाए जाते हैं, अत किसी एकरूप को वरीयता देने के लिए केवल उसे ही व्याकरण-संगत मान लेने की मनोवृत्ति छोड देनी चाहिए। हां, अन्य उपलब्ध शब्द रूपों को, प्रतियों के आधार पर पाद-टिप्पण में अवश्य दे देना चाहिए। ऐसा करने से आगमों में एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप होने की पुष्टि भी होगी। आगमों की प्राचीन विविधता तथा मूलरूपता अक्षुण्ण रहेगी। यह इसलिए भी आवश्यक है कि हमारे पास कुन्दकुन्द के द्वारा हस्तलिखित कोई प्रति नहीं है और अभी संपादन में 1500 वर्ष बाद की उपलब्ध आधारप्रति (?) काम में ली जा रही है।

7. संपादन भाषिक या अन्य की स्वस्थ परंपरा को स्वीकार कर पूर्व सपादित ग्रन्थो के अगले संस्करणो मे संशोधन कर लेना चाहिए। इस परंपरा में निम्न बाते मुख्य हैं-

(अ) मूल आधार प्रति की गाथा पहिले दी जाए।

(ब) उसके बाद संशोधित या संपादित रूप दिया जाए।

(स) अन्वयार्थ या भावार्थ दिया जाए।

(द) अन्य प्रतियों के आधार पर पाद-टिप्पण अवश्य दिए जाएँ।

उपरोक्त धारणाओं से यह नहीं समझना चाहिए कि शौरसेनी के स्वतंत्र भाषिक विकास में किसी को कोई आपत्ति है। यह समीक्षण मात्र जन-भाषा प्राकृत या अर्धमागधी के साहित्य के शौरसेनी अथवा उसकी ऐतिहासिक बहुरूपता के एक रूपकरण के निराकरण और प्राचीन सही मार्ग के दर्शाने में है। अन्यथा शौरसेनी का स्वतंत्र विकास हो, उसमें नया साहित्य निर्मित हो, यह तो प्रसन्नता की बात ही होगी। इसके लिए जो विद्वज्जन योगदान कर रहे हैं– वे धन्यवादार्ह है।

जैन सस्कृति की दिगम्बर परम्परा के संरक्षण और परिरक्षण के लिए, उसके प्राचीनत्व को स्थायी रखने के लिए दिए गए इन सुझावों को 'अस्मिता' की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए एवं भविष्य में इन्हे अपनाकर और अधिक पुण्यार्जन करना चाहिए। इससे जैन-तंत्र की सुसंगत श्रेष्ठता की धारणा लोक-प्रियता प्राप्त करेगी।

सन्दर्भ :

1. ओशो रजनीश; 'महावीर मेरी दृष्टि में', पुणे, 1994

2 शास्त्री नेमचन्द्र; 'महावीर और उनकी आचार्य परम्परा', दि0 जैन, विद्वत् परिषद्, सागर 1975 पेज 223

3. तथैव, 'प्राकृत भाषा और साहित्य का इतिहास, तारा बुक डिपो, काशी, 1988 पेज 30-40
4. तिवारी भोलानाथ; 'सामान्य भाषा विज्ञान' इलाहाबाद 1984
5 सिआ हीरालाल, 'शौरसेनी आगम साहित्य की भाषा का मूल्यांकन, कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली 1995
6. जैन सुदीप' व्यक्तिगत पत्राचार
7. आचार्य कुन्दकुन्द; 'समयसार, कुन्दकुन्द भारती दिल्ली, 1978
8 मालवणियां दलसुख, 'आगमयुग का जैन दर्शन', सन्मति ज्ञानपीठ आगरा 1966
9. रत्नागर, शिरीन, 'हॉट लाइन, बंबई 9-2-96 पेज 30
10. शास्त्री बालचन्द्र, 'षट्खंडागम एक अनुशीलीन', भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली 1992
11 शास्त्री पद्मचन्द्र; 'अनेकान्त दिल्ली 46-47, 4-1, 1993-94
12 जैन सुदीप; 'प्राकृत विद्या, दिल्ली 7-3-1995 पेज 62
13 शास्त्री पद्मचन्द्र, 'अनेकान्त दिल्ली (अ) 47-4, 18994 (ब) 48-1, 1995
14 जैन बलभद्र, देखिये, संदर्भ 7 मुन्नुडि तथा 'प्राकृत विद्या' दिल्ली (सं) 5, 2-3, 1993
15. आप्टे व्ही.एस., 'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1993 पेज 393
16 देखिए सदर्भ 2
17. शास्त्री पद्मचन्द्र; 'हिमालय में दिगंबर मुनि' कुन्दकुन्द भारती दिल्ली 1995
18 जैन एस ए. 'रीयल्टी' ज्वालामालिनी ट्रस्ट मद्रास 1992
19 जैन उदयचन्द्र; 'कुन्दकुन्द शब्दकोष' विवेक विहार दिल्ली
20 स्वामी सुधर्मा, 'समवाओ' जैन विश्वभारती लाडनूं। 1954 पेज 183
21 ढाकी एम ए (अ) दल सुखमालवणिया अभि. ग्रथ पेज 187 व्यक्तिगत चर्चा
22 खडबडी बी के, 'प्राकृत विद्या' दिल्ली 7-3-95 पेज 97
23. जैन राजाराम; तथैव पेज 75
24. देखिये संदर्भ 8 और 4
25 जैन गोकुल चन्द्र, 'जैन सिद्धांत भास्कर' आरा 45, 1-2 1992 पेज 1-9 अं.
26 चन्द्र के आर, 'प्राकृत विद्या' दिल्ली 7 3 1995 पेज 39 तथा व्यक्तिगत चर्चा
27 जैन अजित प्रसाद, 'शोधादर्श, नवम्बर लखनऊ
28 जैल एम एल, अनेकान्त पूर्वोक्त अंक
29 आचार्य समन्तभद्र; 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार, प्रज्ञा पुस्तक माला लुहर्रा 1983/15
30. वर्णी जिनेन्द्र; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-22, भारतीय ज्ञानपीठ 1986 /379, 390

चंद्रगुप्त मोर्य का श्रवणबेलगोल मार्ग

–राजमल जैन

इस विषय पर विचार करने के लिए चंद्रगुप्त के संबंध में प्रचलित धारणाओं एवं उसके श्रवणबेलगोल गमन संबंधी जो कुछ भी तथ्य संभव हो सकते हैं, उन पर विचार करने पर मार्ग स्पष्ट हो सकता हैं

नंद राजाओं के विशाल साम्राज्य पर चंद्रगुप्त मौर्य का अधिकार हुआ किंतु इस स्वदेशाभिमानी एवं पराक्रमी सम्राट को भी निम्न उत्पत्ति का सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। उसे मुरा नामक दासी का पुत्र बताया गय है किंतु यह कथन करने वाला यह भूल गया कि मुरा से मौर्य शब्द नहीं बनता। वास्तव में प्राकृत "रिअ" के स्थान पर संस्कृत में "र्य" हो जाता है। चंद्रगुप्त मोरिय (अ) जाति का था, इसलिए वह मौर्य कहलाया। विद्वान लेखक इस तथ्य को पहिचान गए हैं। दक्षिण भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान श्री नीलकंठ शास्त्री का कथन है, "Jain tradition regards Chandragupta as the son of a daughter of the chief of a village of peacock breeders (Mauriya Poshaka). It may be noted that the peacock figures as the emblem of the Mauryas in some punch marked coins and sculptures." पाठक स्वयं ही विचार कर सकते हैं कि सिक्के ओर मूर्तिया झूठ नहीं बोलते।

प्राय: सभी इतिहासकार इस बात से सहमत है कि कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल मे जैनधर्म का प्रवेश चंद्रगुप्त मौर्य के श्रवणबेलगोल आगमन के समय ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में हुआ। कितु इस बात पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए कि क्या भद्रबाहु और चंद्रगुप्त ऐसे प्रदेश मे बारह हजार मुनियों के साथ चले आए जहा जैनधर्म के मानने वाले पहले से नही थे। सामान्य जन भी यदि कही बाहर बसने की सोचते हैं, तो सबसे पहले भाषा, भोजन आदि की सुविधा का विचार करके ही कदम उठाते हैं। परंपरा है कि चंद्रगुप्त मुनि रूप में श्रवणबेलगोले पहुंचे थे। जैन मुनियों के आहार की एक विशेष विधि होती है। वे अतिथि होते हैं। वे 46 दोषों से रहित तथा बिना अंतराय के दोनों हाथों की अंजुलि से बने पाणिपात्र में खडे-खडे ही दिन में केवल एक ही बार केवल 32 ग्रास के बराबर भोजन करते हैं। धुआं, किसी का रुदन या बाल आदि का आ जाना इत्यादि

बाधा या अंतराय आ जाने पर वे बिना आहार के ही लोट जाते हैं। ऐसे कठिन व्रत का पालन उनकी आहार विधि को नही जानने वाले जैनों से रहित प्रदेश में संभव ही नहीं है। इस दृष्टि से ऊपर कहे गए प्रदेशों में पहले से ही जैन आबादी का होना आवश्यक है।

अब इस बात पर विचार करना उचित होगा कि क्या चंद्रगुप्त मौर्य दक्षिण की ओर प्रस्थान करने का निश्चय करने के साथ ही जैन मुनि हो गए थे। दूसरी बात यह है कि उन्होंने कौन-सा मार्ग अपनाया था। इन दोनों प्रश्नों पर लिखित विवरण शायद उपलब्ध नहीं है। फिरभी यहां प्रयत्न किया जाएगा क्योंकि इन दोनों प्रश्नों के उत्तर का संबंध केरल आदि प्रदेशों में जैन धर्म से जुडता है।

चंद्रगुप्त का साम्राज्य फारस की सीमा को छूता था। उसने सेल्युकस के दांत खट्टे किए थे। उसकी आयु अकाल की भविष्यवाणी के समय केवल 50 वर्ष थी। इसलिएअकाल की क्रूर छाया से भयभीत होकर उसका एकाएक मुनि हो जाना संभव नहीं जान पडता। यह संभावना की जा सकती है कि अकाल की संभावना और उसके प्रजा के कष्ट के संबंध में उसने चाणक्य से अवश्य परामर्श किया होगा। चाणक्य (कौटिल्य) का परामर्श अर्थशास्त्र के चौथे अधिकरण, प्रकरण 78, अध्याय 3 मे उपनिपात प्रतीकार (दैवी आपत्तियों से प्रजा की रक्षा का उपाय) के अंतर्गत निम्नप्रकार दिया गया है।

"दुर्भिक्षे राजा बीजभक्तोपग्रहं कृत्वाऽनुग्रहं कुर्यात्। दुर्ग्रे सेतुकर्मे वा भक्तानुग्रहेण भक्त संविभागं वा। देश निक्षेपं वा। मित्राणि वा व्यपश्रायेत्। कर्शनं वमनं वा कुर्यात्। निष्पन्नसस्वमन्य विषदं वा। सजनपदो यायात्। समुद्रसरस्तटाकानि वा संश्रयेत्। धान्यशाकमूलफलवापान्सेतुषु कुर्वीत्। मृगपशुपक्षिव्यालमत्सरम्भान् वा।" (हिदी) राज्य में दुर्भिष पडने पर राजा की ओर से बीज और अन्न वितरण करके जनता पर अनुग्रह किया जाए। अथवा दुर्भिक्ष पीडितों को उचित वेतन देकर दुर्ग या सेतु आदि का निर्माण कराया जाए। काम करने में असमर्थ लोगों को केवल अन्न दिया जाए। अथवा उनका समीप के दूसरे दुर्भिक्षरहित देश तक पहुंचाने का प्रबंध कर दिया जाए। अथवा मित्र राजा से सहायता ली जाए। अपने देश के धनवान व्यक्तियों पर विशेषकर लगाकर तथा उनसे एकमुश्त रकम लेकर आपत्ति का प्रतीकार किया जाए। या तो जो देश धन-धान्य सहित दिखे, वहीं प्रजा सहित चला जाए। अथवा समुद्र के किनारे या बडे-बडे तालाबो के पास जाकर बसा जाए जहां पर कि धान्य, शाक, मूल, फल आदि की खेती की जा सके। अथवा मृग, पशु, पक्षी, व्याघ्र और मछली आदि का शिकार कर प्राण रक्षा की जाए (अनुवाद वाचस्पति गैरोला)

चुद्रगुप्त ने बीज वितरण आदि सब कुछ किया होगा। वह स्वयं पूरे जंबूद्वीप का स्वामी था (महावंसो जिसमें श्रीलंका का इतिहास निबद्ध है।) इसलिए मित्र

राजा से सहायता लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। उसने निर्माण कार्य भी करवाए होंगे जिनमें से एक का शिलालेखीय प्रमाण मिलता है। किंतु संभवतः अकाल की भीषणता का अनुभव कर चंद्रगुप्त मौर्य बारह हजार मुनियों और उनके आहार आदि की व्यवस्था के लिए कम से कम दो लाख जैन श्रावकों और अन्य प्रजाजनों को साथ लेकर अर्थात् सजनपद अपना राज्य पुत्र बिंदुसार और चाणक्य के हाथो में सौंप कर समुद्रतटीय प्रदेशों की ओर चला। इस संकट की छाया के समय वह अपनी उपराजधानी उज्जयिनी में था ऐसी अनुश्रुति है। अनुमान है कि वह मनमाड के निकट चंद्रवट नामक स्थान पर पहुंचा जो कि गुजरात की सीमा में है। इस स्थान का मूल नाम चंद्रवाट अर्थात् चंद्र (चद्रगुप्त) का मार्ग रहा होगा। वाट का संस्कृत में मार्ग या रास्ता अर्थ होता है। इस स्थान के समीपस्थ मध्यप्रदेश में वट शब्द मार्ग के अर्थ में आज भी प्रयुक्त होता है। (जैसे करवट यानी गाडियो के आने-जाने से बना मार्ग)। अत कोई आश्चर्य नहीं कि इस स्थान का नाम चंद्रगुप्त की दक्षिण यात्रा के मार्ग मे पडने के कारण प्रचलित हुआ हो। इस यात्रा में वह समुद्रतट के निकट के पर्वत गिरनार आया। वहा अपने इष्टदेव नेमिनाथ के चरणों की वदना की होगी। गिरनार (जूनागढ) की तलहटी में उसने अपने वैश्य राज्यपाल पुष्यगुप्त की देखरेख में सुदर्शन नामक सरोवर का निर्माण कराया जिसकी पुष्टि रूद्रदामन के 150 ईस्वी के शिलालेख से होती है। रूद्रदामन ने इस लेख में कहा है कि उसने चंद्रगुप्त द्वारा निर्मित सरोवर के तटबंध की मरम्मत बिना अतिरिक्त कर लगाए करवाई है। गिरनार में भी एक गुफा का नामकरण चंद्रगुप्त के नाम पर हुआ ऐसा प्रतीत होता है। सौराष्ट्र से वह कोकण प्रदेश की ओर बढा जहा चद्रभागा नदी बहती है। फिर आगे बढने पर वह कर्नाटक के सिद्धापुर तालुक के सेएुर नामक स्थान पहुंचा जिसके समीप का पर्वत चंद्रगुट्टी कहलाता है। तदनन्तर वह केरल के कासरगोड जिले में प्रविष्ट हुआ जहां चंद्रगिरि नामक एक नदी है और चंद्रगिरी नाम का एक पर्वत भी है। केरल सरकार के एक प्रकाशन District Handbook Kasargod में इस बात का उल्लेख है कि चंद्रगिरी नाम चंद्रगुप्त मौर्य के सम्मान में रखा गया था। यह उल्लेख इस प्रकार है— "There are 12 rivers in the district. The longest is Chandragiri (105 Kms.) origintating from the pattimala in Koorg and embraces the sea at Thalangara. The name Chandragiri dirived from the source of the river 'Chandragupta vasti' where the great Maurya Emperor Chandragupta is believed to have spent this last days as a saint" (P.3). रॉबर्ट सेवेल ने लिखा है कि उक्त नदी के किनारे एक शिलालेख है जो पढा नहीं जा सका। इसी प्रकार वह नेल्लिथांपति (केरल) के चंद्रगिरी पर्वत तक पहुचां।

उपयुक्त कासरगोड और केरल का उससे आगे का भाग हरा-भरा, धन-धान्य से परिपूर्ण अवश्य है किंतु चुद्रगुप्त ने इस प्रदेश में मुनियों सहित रुकना उचित नहीं समझा होगा क्योंकि तटवर्ती लोग मत्स्य भोजी रहें होगे जैसे कि आजकल भी है। संभवत· इसी कारण चंद्रगुप्त का संघ कालीकट से केरल के वायनाड जिले की ओर मुड गया। वह प्रदेश बहुत सुंदर और हरा-भरा तो है किंतु ऊचे पर्वत, असम भूमि तथ वन प्रदेश की बहुलता के कारण निवास और प्रजाजनों द्वारा कृषि के उपयुक्त नहीं लगा होगा। इस प्रदेश में कलपट्टा नामक एक स्थान के पास एक चंद्रगिरी है जहां आज भी वहां के जैन अभिषेक आदि उत्सव करते हैं। और आगे बढ़ने पर चंद्रगुप्त का संघ केरल पीछे छोडकर मैसूर की ओर बढ़ा चला। मैसूर प्रदेश में भी चंद्रवल्ली नामक एक स्थान है जो कि ईस्वी सन के प्रारंभिक समय में एक प्रसिद्ध व्यापारिक नगर था। वहां रोम के सिक्के भी मिले थे। वैसे आंध्रप्रदेश में भी चंद्रगुप्तपट्टनामक एक स्थान है किंतु यह नाम किसी समय बाद में रखा गया जान पड़ता है। श्रवणबेलगोल पहुंचने पर उसे वहां के कम ऊंचे पर्वत, उत्तम जलवायु और उर्वर भूमि ने आकृष्ट किया होगा। अत· वह वहीं रुक गया। इस यात्रा में चुद्रगुप्त को एक-दो वर्ष का समय अवश्य लगा होगा। शायद शरीर थक जाने और भद्रबाहु के वैराग्यपूर्ण साथ के कारण चंद्रगुप्त ने मुनि दिक्षा ले ली। बिंदुसार एव चाणक्य के कारण वह साम्राज्य की ओर से निश्चिंत था ही। श्रवणबेलगोल में चंद्रगुप्त ने जिस पहाड़ी पर तपस्या की, वह पहाडी आज भी चंद्रगिरी कहलाती है। वहीं इस सम्राट का निर्वाण भी हुआ। इसी पहाडी पर चंद्रगुप्त के तथा भद्रबाहु के चरण-चिन्ह एक गुफा में अंकित है। वहां एक छोटा-सा मंदिर भी है जो कि चंद्रगुप्त वसदि कहलाता है। इसके अतिरिक्त, इन दोनों महापुरुषों की जीवनगाथा भी 90 पैनलों में पाषाण पर उत्कीर्ण है।

चंद्रगुप्त के मार्ग में इतने स्थानों, पर्वतों या नदियों के नामों के साथ चंद्र जुडा होना यह सकेत देता है कि प्रजा के कष्टों को दूर करने के लिए राजकीय सुखों का त्याग कर सजनपद सुदूर दक्षिण में आने पर इस शासक के सम्मान में उपर्युक्त स्थानों के चंद्र से प्रारंभ होने वाले नाम रखे गए है। केरल में तीन नाम इस कोटि के हैं। इससे ऐसा लगता है कि चंद्रगुप्त ने केरल होते हुए ही कर्नाटक में प्रवेश किया था। विद्वानों को भौगोलिक नामों के पुरातत्व पर भी विचार करना चाहिए। अहिच्छत्र, अयोध्या, उरैयूर, श्रवणबेलगोल, तिरुच्चारणाट्टमलै, कन्याकुमारी आदि से पर्याप्त सांस्कृतिक सूचना मिलती है। इसी दृष्टि से विचार करने पर चंद्रगुप्त मौर्य का श्रवणबेलगोल मार्ग अनुमानित किया जा सकता है। आखिर इतिहास का अधिकांश भाग अनुमान परही तो आधारित होता है और अनुमान ही विभिन्न धारणाओं को जन्म देता है।

केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में संरक्षित जैन यक्ष-यक्षी प्रतिमाएँ

—नरेश कुमार पाठक

शासन देवता समूह में चौबीस यक्षों और उतनी ही यक्षियों की गणना है। ये यक्ष और यक्षी तीर्थंकरों के रक्षक कहे गये हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं के दायें ओर यक्ष और बायें ओर एक यक्षी की प्रतिमाऐं बनाये जाने का विधान है। पश्चात-काल में स्वतंत्र रूप से भी यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएं बनाई जाने लगी थी। यद्यपि तांत्रिक युग के प्रभाव से विवश होकर जैनों को इन देवों की कल्पना करनी पडी थी। किन्तु इन्हें जैन परम्परा में सेवक या रक्षक का ही दर्जा मिला है न कि उपास्य देव का। यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएं सर्वाङ्ग सुन्दर सभी प्रकार के अलंकारों से युक्त बनाने का विधान है। करण्ड मुकुट और पत्र कुण्डल धारण किये प्राय· ललितासन में बनायी जाती है। केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ एव बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के यक्ष-यक्षियों की चार प्रतिमाएं संरक्षित हैं। जिनका विवरण निम्नलिखित है ·

गोमुख यक्ष : प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के शासन देवता की गंधावल जिला देवास मध्य प्रदेश से प्राप्त गोमुख यक्ष का मुख पशुआकार (गोवक्त्रक) और शरीर मानव का है। (स क्र. 230) अप सव्य ललितासन में बैठे हुए शासन देव की दायीं नीचे की भुजा भग्न है। दायीं ऊपरी भुजा में गदा, बायीं ऊपरी भुजा में परशु नीचे की में बीजपूरक लिये है। यक्ष आकर्षक करण मुकुट, मुक्तावली उरुबन्ध, केयूर, बलय मेखला से सुसज्जित है। कलात्मक अभिव्यक्ति 11 वीं शती ईस्वी की परमार युगीन शिल्पकला के अनुरूप है।

चक्रेश्वरी : प्रथम तीर्थकर ऋषभनाथ की शासन यक्षी चक्रेश्वरी की ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त मानव रूपी गरुड पर सवार है, सिर एवं ऊपर के दो हाथ खण्डित हैं। (स.क्र. 305) नीचे के दो हाथ आंशिक रूप से सुरक्षित हैं। दोनों ओर दो चक्र बने हुये हैं, यक्षी एकावली, हार, उरुबन्ध, केयूर,बलय, मेखला पहने हुये है एवं पैरों में अधोवस्त्र धारण किये है। गरुड़ के सिर पर आकर्षक दोनों पार्श्व में त्रिभंग मुद्रा में परिचारिका चावरधारिणी सुशोभित है वे दायें हाथ में चॅवर लिये है, बायां हाथ कट्यावलम्बित है। दोनों पार्श्व में अंजलीहस्त मुद्रा में भू देवी और श्री देवी का आलेखन है। 10 वीं शती ईस्वी की प्रतिमा काफी भग्न अवस्था में है। कलात्मक

अभिव्यक्ति की दृष्टि में मूर्ति उत्तर प्रतिहार कालीन शिल्प कला के अनुरूप है।

गोमेद्य-अम्बिका : बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के शासन यक्ष-यक्षी गोमेद्य-अम्बिका की प्रतिमा ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त हुई है। (स.क्र. 294) गोमेद्य अम्बिका सत्य बलितासन में बैठे हुये है। गोमेद्य की दायी भुजा एवं मुख भग्न है। बार्यी भुजा से बार्यी जंघा पर बैठे हुये बालक ज्येष्ठ पुत्र शुभंकर को सहारा दिये है। बालक का सिर भग्न है। वे मुक्तावली एवं केयूर धारण किये हैं। अम्बिका की दार्यी भुजा में स्थित आम्रलुम्बी भग्न है। बार्यी भुजा से बालक कनिष्ठ पुत्र प्रियंकर को सहारा दिये हुये है। देवी आकर्षक केश, चक्र एवं पद्म कुण्डल, मुक्तावली, उरुबन्ध, बलय व नूपर धारण किये है। देवी का दायां पैर पद्म पर रखे हुये है। बायें पार्श्व में आम्रलुम्बी आँशिक रूप से सुरक्षित है। उसके नीचे एक पुरुष अंकित है, जिसकी दार्यी भुजा भग्न है। बार्यी भुजा कट्यावलम्बित है। पादपीठ पर दोनों ओर दो कुन्तलित केश युक्त ललितासन में दो प्रतिमा अंकित हैं। जिसकी दार्यी भुजा अभय मुद्रा में बार्यी, बायें पैर की जंघा पर है। मध्य में दो योद्धा युद्ध लड रहे हैं। राजकुमार शर्मा की सूची में इस मूर्ति को स्त्री-पुरुष दो बालक लिखा हुआ है। 11 वीं शती ईस्वी की यह मूर्ति कच्छप धात युगीन शिल्प कला के अनुरूप है।

अम्बिका : बाईसवें तीर्थकर नेमिनाथ की शासन यक्षी अम्बिका की तीन प्रतिमाएं सुरक्षित हैं। प्रथम तुमेनजिला गुना मध्य प्रदेश से प्राप्त हुई है। (सं क्र 49) सव्य ललितासन में सिंह पर बैठी हुई है। बाई जघा पर लघु पुत्र प्रियंकर खडा हुआ है दायें ओर ज्येष्ठ पुत्र शुभंकर खड़ा हुआ है। देवी दार्यी भुजा में आम्रलुम्बी लिये है एवं बार्यी भुजा से अपने लघु पुत्र प्रियंकर को सहारा दिये हुये है। देवी आकर्षक केश, कुण्डल, मुक्तावली, केयूर, बलय, नूपर पहने हुये है। ऊपर आम्रवृक्ष की छाया है। लघु पुत्र प्रियंकर का मुख भग्न है। एसआर ठाकुर ने इस मूर्ति को पार्वती लिखा है। जबकि डा. ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा ने इसको अम्बिका ही लिखा है। डा राजकुमार शर्मा की सूची में इस प्रतिमा को पार्वती लिखा गया है। पांचवी शती ईस्वी की यह मूर्ति गुप्त कालीन शिल्प कला के अनुरूप हैं

बदोह जिला विदिशा से 8 वीं शती ईस्वी की दो शासन देवी अम्बिका प्रतिमा के ऊर्ध्वभाग प्राप्त हुये है। प्रथम तीर्थकर नेमिनाथ की शासन यक्षी अम्बिका (स. क्र. 246) का उरोज से नीचे का व बांयाभाग भग्न है। देवी के ऊपर दायें ओर आम्र लुम्बी की छाया है। यक्षी आकर्षक केश, पद्म व चक्र कुण्डल, मुक्तावली व उरोज तक फैली त्रिवली हार पहने हुये है। मुख मुद्रा सौम्य है।

दूसरी यक्षी अम्बिका प्रतिमा का उरोज (स.क्र. 249) से नीचे का भाग एवं हाथ अप्राप्त है। पीछे प्रभावली सिर के ऊपर त्रिफण नाग मौलि केश रत्न पट्टिका से सुरक्षित है। अन्य आभूषणो मे चक्र कुण्डल, मुक्तावली एवं उरोज तक फैली त्रिलड़ी युक्त हार शोभायमान है। मुख मुद्रा प्रसन्न चित्त है। कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से दोनों प्रतिमा प्रतिहार कालीन शिल्पकला के अनुरूप हैं।

गतांक से आगे

प्राकृत वैद्यक : हरिवाल कृत

अपमग्गमूल सिंधव मोत्थसहा घसहं तं च पत्तेण।
वहु चक्खु तत्थभरिए पसमय जह हुव बहु तौएण।।17।।
सोहिंजण पत्तरसो महुणा सह नेऽछिया हुंति।
अह सिय कणयरदल रसि अजिय नयणाइं उवसमहिं।।18।।
तरूलग्गां आवलहल सज्जारसेणावि णयह पूरेह।
जह तिमिरं सूरेण य तह तिमिराति दोसयं जाइ।।19।।

. . . .

तिहलारसेण धसिया वंझा सहियावि काचसो हेइ।। 20।।
रत्तंदणुविकुमारी लोयाणमल पुप्फं णासणं ऊणइ।
बंझा जलेण घसिया पडवालं च फेडेइ।। 21।।
चिंत्तय तिहल पाडोला जब कत्थ मज्झि सोठिकरसोवि।
पीवह पाडल फुंल्लं वणरत्तत्थि दोस फेडेइ।। 22।।
महुलट्ठिलोहु तिहला महुगुल सहिया वि गुलय भरकेह।
गलकणदंत पीडा हणइ भयंदरू वि णयण रुजा।। 23।।
सिंधव हरणइ धात्री गेरु समभाय चउरी जलपिट्ठा।
पिंडिय बाधय दोसो णासइ णयणस्स सव्वरूया।। 24।।
अमरी मोत्थ पडोला भूणेव धमासउ जवासोय।
तिहला सणिंव छल्लीय पप्पडउ कत्थयं पिवह।। 25।।
हर....... रंड मूल छायल खीरेण सुहम पीसेह।
चक्खू सूलं बद्धं णयणस्स णासेइ।। 26।
फे.......3......मलवायं पित्तय फोडाय सन्निवायो य।
बेसप्पीदि विणासइ इमो सहोमच्चलं........।। 27।।
महु सक्कर सह पीया वात्थमूलं च कढिय चउभायं।
णासइ रत्तं पित्तं पंडु रोयणाणि चैव ।। 28।।
तिविड चित्त तिहला गंठीयं लोह तक्क सहपीयं।
तक्षी पाणे जुत्तं पंडुरोयं समोसरइ।। 29।।
सहु तक्कर बडउत्ती दक्ख छुहारायं स्वद्धमहुलत्तं।
अह दक्ख सुंठि हिंगं अहवा समपीय पंडुरोयहणइ।। 30।।

एल कण तजति टंके चउरो विस्साय मिरिय बेटकं।
दहिसक्कर संजुत्तं पित्तं पणासेई।। 31।।
सरिसम उसीर धत्ती णियंव छल्लीय कत्थपीएण।
रत्तं पित्तं पणासइ कुट्ठं विणासो तहाचेव।।32।।
हरणइ वालउ धारइ कत्थं कढिऊण चउत्थ भाएण।
सक्कर सहिंय पीयं सोणिय पित्तं णिवारेइ।। 33।।
पत्था वासउ दक्खा कत्थस सित्ताय रत्त पित्त हरो।
गुल मिरिया दहि पीय रस पित्तयं च णासेइ।। 34।।
करवालं गुरिचवया एरंड तेलुवि कत्थए घिसह।
तं पीयंतो णासइ वाइयरत्तं ण संदेहो।। 35।।
सरपुंसा णयमूलं तंदुल तोएण बह्रियं लएहं।
रविवारेणाय पिज्जइ रत्तंगालो पणासेई।।३६।।
जंभण जड तंदुल जल पीए मुहुरत्त थंमणं करइ।
अहिकंहुं वरिमूलतं जलपीयावि तंजि अब हरइ।।३६।।
हरणइ दाडिमफुल्ला दुद्धारस लक्खरसय समभाए।
णासो णासइ रूहरिं णासरणि वियप्पेण ।।३८।।
गोहुमजड तंदुल जल पिट्ठा मुहुरत्त थंभणं करइ।
जाइदला मुहिधरिया अहवा पाचं णिवारेइ।। 39।।
जावासे जड चुण्णं तंदुल जलि पीयमाणौण।
थंभइ मुहगय रत्तं जह सीया णिसियरे पसरे।। 40।।
तिहला सोंठि बिसाला कडुय पडोलाय तायमाणो य।
दोणिसि गिलोय कत्थं महु सह मुहपाचयं हरइ।। 41।।
दारुणिसा गोक्खरुवं वेकरिसाईं कढियाइं पाणेण।
णाडीवण मुह रोय णासइ जिम उनसमो रोसो।। 42।।
मयण भुया सगुरीयं तंबोल दला सदारू जामीय।
कलमी तंदुल जुत्ता फुट्टा अहराय उवसमहि ।। 43।।
विज्जवरा जाइदला एलधणा सुरही पिप्पली वाला।
केलय महुसह लेहो किणर कलगीय झुणि होइ।। 44।।
जाइदला गय पिप्पलि महु सह माहुलिंग कयसी हो।
किणरस राण सरिसो होइ सरो मास मिक्केण।। 45।।

— सौजन्य : श्री कुन्दनलाल जैन

सम्यग्ज्ञान में चार अनुयोगों की उपयोगिता

–डॉ. जयकुमार जैन
261/3 पटेलनगर, नई मण्डी
मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश) 251001

अनुयोग शब्द अनु उपसर्ग पूर्वक युज् धातु से घञ प्रत्यय का निष्पन्न रूप है, जिसका अर्थ प्रश्न, पृच्छा, परीक्षा, चिन्तन, अध्यापन या शिक्षण आदि है[1]। इन अर्थो को ध्यान में रखते हुए दिगम्बर और श्वेवाम्बर दोनो परम्पराओं का साहित्य विषय की दृष्टि से चार भागों में वर्गीकृत किया गया है– प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। समग्र जैंन साहित्य का विभाजन करते हुए पुराण, चरित आदि आख्यान ग्रन्थों को प्रथमानुयोग में गर्भित किया गया है। करणा नुयोग में कथित करण शब्द द्वयर्थक है। यह जीव के परिणामों और गणित के सूत्रों का वाचक है। अत· इस अनुयोग के साहित्य के अन्तर्गत जीव और कर्म के सम्बन्ध आदि का निरूपण करने वाले कर्मसिद्धान्त विषयक ग्रन्थ और खगोल, भूगोल एव गणित का विवेचन करने वाले ग्रन्थ आते हैं। आचार सम्बन्धी समग्र साहित्य का अन्तर्भाव करणानुयोग के अन्तर्गत किया गया है तथा द्रव्य, गुण, पर्याय आदि वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक ग्रन्थ द्रव्यानुयोग में अन्तर्भूत हैं। यहां यह कथ्य है कि दिगम्बर परम्परा में जिसे प्रथमानुयोग कहा गया है, श्वेताम्बर परम्परा में उसका उल्लेख धर्मकथानुयोग नाम से हुआ है और दिगम्बर परम्परा में जिसे करणानुयोग सज्ञा दी गई है, श्वेताम्बर परम्परा में उसका उल्लेख धर्मकथानुयोग नाम से हुआ है और दिगम्बर परम्परा में जिसे करणानुयोग संज्ञा दी गई है श्वेताम्बर परम्परा में उसका अभिधान गणितानुयोग है। इस प्रकार विषय दृष्टि से जैन साहित्य चार भागों में विभक्त है।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह अनुयोग का विभाजन आर्यरक्षित सूरि ने भविष्य में होने वाले अल्पबुद्धि शिष्यों को ध्यान में रखकर किया था। इस परम्परा के अनुसार अन्तिम दशपूर्वो के ज्ञाता आर्य वज्र हुए। इनका स्वर्गाधिरोहण दि सं. 144 (87 ई.) मे हुआ था। इनके बाद आर्यरक्षित सूरि हुए। इन्होंने श्वेताम्बर परम्परा मे स्वीकृत समग्र साहित्य को चार अनुयोगों में विभाजित किया। ग्यारह अगो (दृष्टिवाद को छोडकर) का समावेश चरणानुयोग में, ऋषिभाषितों का अन्तर्भाव धर्मकथानुयोग में, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थो का समावेश गणितानुयोग में किया तथा दृष्टिवाद नामक एक अंग को द्रव्यानुयोग में रखा। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा चार अनुयोगों का विभाजन ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण मे मानती है। दिगम्बर परम्परा में इस प्रकार का कोई स्पष्ट उल्लेख हो–ऐसा मेरी जानकारी में नहीं है।[2] द्रव्यसंग्रह की टीका में चारो अनुयोगों के लक्षणो का उल्लेख करते हुए चार अनुयोग रूप से चार प्रकार का श्रुतज्ञान कहा है।[3] श्रुतज्ञान दो प्रकार का है–द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। ये चारों अनुयोग मोक्षमार्ग में दीपक के समान हैं तथा द्रव्यश्रुत के वर्गीकरण रूप हैं। यह सुविदिततथ्य है कि द्रव्यश्रुत ही भावश्रुत के लिए कारण बनता है तथा भावश्रुत केवलज्ञान का बीज भूत है।

'विणयेण सुदमधीदं जदि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमु अवट्ठादि् परभवे केवलणाण च आवहदि।। मूलाचार गाथा 286

अतएव श्रुतज्ञान की उपासना का फल केवलज्ञान की प्राप्ति और तज्जन्य मुक्ति ही है। जिनेन्द्र भगवान् के मुखकमल से निःसृत पूर्वापर विरोध हीन वचनों को आगम या श्रुत कहते हैं। चारों अनुयोग द्रव्यश्रुत रूप हैं, अतः सम्यग्ज्ञान में उनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। समाधिभक्ति में 'प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः कहकर चारों की समवेत, महत्ता स्वीकार की गई है। जहां कहीं किसी एक अनुयोग को महत्त्वपूर्ण कहा गया है, वहां सापेक्ष कथन है अतः जैन साहित्य के अध्येताओं एवं अनुसन्धित्सिओं को अनुयोग व्यवस्था ध्यान में रखकर क्रमशः अध्ययन करना अपेक्षित है तथा परम्परा से शास्त्रों का अर्थ करना अपेक्षित है। अन्यथा उनके द्वारा शास्त्र के अर्थ का अनर्थ करके वह शस्त्र बन सकता है। कहा भी गया है–

'शास्त्राग्नौ मणिवद् भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृत :।
अंगारवत् खलो दीप्तो मलो वा भस्म वा भवेत् ।।[5]

अर्थात् इस शास्त्र रूपी अग्नि में तपकर भव्य जीव मणि के समान विशुद्ध होकर सुशोभित होता है और दुष्ट व्यक्ति अंगार के समान दीप्त होता है अथवा कालिमा या राख बन जाता है।

(1) प्रथमानुयोग– भावश्रुतज्ञान के आधारभूत द्रव्यश्रुतके प्रथम भेद प्रथमानुयोग का लक्षण समन्तभद्राचार्य ने लिखा है–

'प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोध समीचीन :।।[6]

अर्थात् जो सम्यग्ज्ञान या श्रुतज्ञान चरित एवं पुराणों को जानता है, उस पुण्यवर्धक, बोधि एवं समाधि के निधान को प्रथमानुयोग कहा गया है। यह प्रथमानुयोग परमार्थ का निरूपक है। इस श्लोक में प्रयुक्त अर्थाख्यान, पुण्य और बोधिसमाधिनिधान पदों के हार्द को स्पष्ट करते हुए टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं कि यह प्रथमानुयोग परमार्थ विषय का प्रतिपादन करने वाला होने से अर्थाख्यान, तथा पुण्य का हेतु होने से पुण्य कहा गया है। अप्राप्त रत्नत्रय की प्राप्ति रूप बोधि तथा प्राप्त रत्नत्रय की पूर्णता रूप समाधि अथवा धर्म्य एवं शुक्ल ध्यान रूप समाधि को प्राप्त कराने वाला होने से प्रथमानुयोग को बोधिसमाधिनिधान कहा गया है।

प्रथम शब्द के दो अर्थ हैं प्रधान और प्रारंभिक। प्रथमानुयोग में ये दोनों ही अर्थ अभीष्ट हैं। यतः यह श्रुतज्ञान (जिनवाणी) का एक प्रधान अंग है, अतः प्रथमानुयोग कहा गया है तथा यह प्रथम अवस्था (मिथ्यात्व गुणस्थान) के जीवो के लिए भी महान् उपकारी है, अतः प्रथमानुयोग कहा गया है। जिनसेनाचार्य के अनुसार इस अनुयोग में पाच हजार पद है तथा इसमें तिरेसठ शलाका पुरुषों के पुराण का वर्णन है।[7] सभी भारतीय दार्शानिकों ने वस्तु के प्रामाण्य के ज्ञान के लिए भी प्रमाण की आवश्यकता मानी है, भले ही किसी ने उसे स्वतः किसी ने परतः अथवा किसी ने स्वत एवं परतः दोनों को सापेक्ष स्वीकार किया है। तीर्थंकरों की एवं उनकी वाणी की प्रामाणिकता का ज्ञान प्रथमानुयोग के बिना नहीं हो सकता है। क्योंकि, तीर्थकरों का चरित, काल एवं उनका उपदेश आदि प्रथमानुयोग में ही वर्णित है।

आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ एवं परमावगाढ ये दश रुचि के भेद से सम्यकत्व के भेद कहे गये हैं।[8] दश प्रकार के इन भेदों में एक उपदेश नामक सम्यग्दर्शन भी है। तीर्थकर बलदेव आदि शुभचारित्र के उपदेश को सुनकर जो समयग्दर्शन धारण किया जाता है, वह उपदेश सम्यग्दर्शन है।[9] यह उपदेश सम्यग्दर्शन प्रथमानुयोग के विना संभव नहीं है। इसी प्रकार जातिस्मरण आदि के निमित्त से उत्पन्न सम्यक्त्व के उदाहरण भी प्रथमानुयोग से जाने जाते हैं। अत· सम्यग्ज्ञान में प्रथमानुयोग की अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

द्वादशांग में बारहवें अंग के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत एवं चूलिका ये पांच भेद कहे गये हैं। इनमें प्रथमानुयोग का मध्य में कथन मध्यमणि न्याय से प्रमुखता का प्रतिपादक है। सम्यग्दर्शन होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती है, अपितु तीर्थकर सदृश महापुरुषों को भी तपश्चरण करना पड़ता है। यह बात प्रथमानुयोग से ही ज्ञात होती है। अदिपुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण आदि प्रथमानुयोग के ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होती है कि पुण्य एवं पाप के फलस्वरुप किस प्रकार लोगों को सुख एवं कष्ट की प्राप्ति हुई। इन उदाहरणों से लोगों की पाप से भीति तथा पुण्य से प्रीति होने लगती है, अत· प्रथमानुयोग की सम्यग्ज्ञान में महती उपयोगिता है। प्रथमानुयोग को सभी अनुयोगों में प्रमुख इसलिए माना गया है, क्योकि इसमें अन्य अनुयोगों का विषय भी आ जाता है इसे आबालबृद्ध सभी समझ सकते हैं, यह मिथ्यात्व छुडाने का साधन है इससे पाप से अरुचि तथा धर्म में रुचि होती है तथा यह रत्नत्रय की पूर्णता में साधक बनता है। जिस प्रकार, पुरूषार्थचतुष्टय में धर्म का प्रथम स्थान है उसी प्रकार अनुयोग चतुष्टय में प्रथमानुयोग का प्रमुख स्थान है।

(2) करणानुयोग : जो श्रुतज्ञान लोक-अलोक के विभाग को, युग के परिवर्तन को तथा चतुर्गति के परिवर्तन को वाणि के समान जानता है, उसे करणानुयोग कहते हैं। समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

'लोकालोकविभक्ते र्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथा मतिरवैति करणानुयोगं च।।'[10]

इस श्लोक का भाव स्पष्ट करते हुए सुप्रसिद्ध टीकाकार पं सदासुखदास काशलीवाल ने लिखा है—"जामें षट्काय रूप तो लोक, अर केवल आकाश द्रव्य हो सो अलोक, अपने गुण पर्यायनि सहित प्रतिबिम्बित होय रहे हैं। अर छह काल के निमित्ततै जैसे जीवपुद्गलनि की परिणति है सो प्रतिबिम्ब रूप होये जामें झलके हैं, अर जामें चार गतिनि का स्वरूप प्रकट दिखै है, सो दर्पणसमान करणानुयोग है, तिनै यथावत् सम्यग्ज्ञान ही जाने है" जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि करण शब्द परिणामविशेष एवं गणित सूत्रो का वाचक है। अतएव इस अनुयोग का विषय गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि के आश्रयभूत जीव के परिणामविशेष भी है और लोक आदि के विस्तार को निकालने के लिए गणितसूत्र भी। कर्मो के उदय उपशम, क्षय, क्षयोपशम की चर्चा भी इसी अनुयोग में होती है। षट्खण्डागम, गोम्मटसार जीवकाण्ड , कर्मकाण्ड, त्रिलोकसार, त्रिलोक्यप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ इसी अनुयोग के हैं।

करणानुयोग के ग्रन्थों में स्वाध्यायी लोकालोक का वर्णन पढकर यह जान लेता है कि मुक्ति कर्म भूमि से ही मिल सकती है, पंच परावर्तन के ज्ञान से वह

संसार से भयभीत होने लगता है, जीवों की जाति, कुल योनि जीवसमास, मार्गणा आदि को समझकर अहिंसा जान लेता है। इस अनुयोग से भव्य जीव यह जान लेता है कि पंचलब्धियों में क्षायोपशमिक, विशुद्धि देशना और प्रयोग्य लब्धियां तो समान्य हैं, भव्याभव्य उभय को प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु करण लब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त होती है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले करणों-भवों को करण लब्धि कहते हैं। इस प्रकार करणानुयोग भी प्रथमानुयोग के समान सम्यक्त्व का कारण है। अतः सम्यग्ज्ञान में इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

(3) चरणानुयोग श्रावक और श्रमण के चरित्र की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसमें वृद्धि किस प्रकार होती है तथा उस चरित्र की रक्षा किस प्रकार की जाती हे, इस बातों के निरुपक शास्त्रों को चरणानुयोगशास्त्र कहते हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा गया है–

'गृहमेध्यनगाराणा' चरित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाडम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति।।[11]

उपासकाध्ययन, रत्नकण्डश्रावकाचार, मूलाचार, भगवती आराधना आदि ग्रन्थ चरणानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। चरित्र के बिना ज्ञान परमावधि, सर्वावधि, मनःपर्यय तथा केवलपने को प्राप्त नहीं हो सकता है तथा चरणानुयोग के विना चरित्र का स्वरूप एवं महत्त्व जानना संभव नहीं है। अतएवं सम्यग्ज्ञान में चरणानुयोग का अतिशय महत्त्व है। पञ्चम् काल में हीन संहनन होने से चारित्र का अधिक महत्व बतलाया गया है। देवसेनाचार्य ने कहा है–

'वरिससहस्सेण पुरा जं कम्म हणइ तेण काएण।
तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणे।।[12]

अर्थात् उस शरीर से (चतुर्थकाल में उत्तम संहनन से) एक हजार वर्ष के चरित्र से जो कर्म नष्ट होता था, वह हीन संहनन वाले पंचम काल में एक वर्ष में निर्जरा को प्राप्त हो जाता है। चारित्र की पूज्यता सर्वत्र स्वीकृत है तथा गृहस्थ ज्ञानी होने पर भी पूजार्ह नही माना गया है। अत· हमें चरित्र धारण करने तथा उसका पालन करने के लिए चरणानुयोग के अध्ययन का प्रयास करना चाहिए। यह भी स्म्यग्ज्ञान का एक भेद है।

(4) द्रव्यानुयोग–जिस अनुयोग में पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व, और नवपदार्थ आदि का विस्तार से वर्णन होता है, उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। समन्तभद्राचार्य ने कहा है–

'जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षो च।
द्रव्यानुयोगदीप : श्रुतविद्यालोकमातनुते।।'[13]

अर्थात् द्रव्यानुयोग रूपी दीपक जीव-अजीव तत्त्वों को, पुण्य-पाप को तथा बन्ध और मोक्ष को श्रुतज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित करता है। समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, द्रव्यसंग्रह आदि शास्त्र इसी अनुयोग के अन्तर्गत आते है।

जब तक जीव को अपने से भिन्न अजीव द्रव्य का ज्ञान नही होगा तक तक उसे आत्मा के एकत्व एवं विभक्तत्व की प्रतीति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार पुण्य-पाप एवं बन्धमोक्ष के ज्ञान के अभाव में जीव बन्ध से बचने का उपाय नही करेगा, फलत· मोक्ष भी नहीं होगा। अतएव सम्यग्ज्ञान में द्रव्यानुयोग का माहात्म्य सर्वविदित है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चारों अनुयोगों की सम्यग्ज्ञान में परस्पर पूरक उपयोगिता है। जो जीव प्रथमानुयोग से महापुरुषों का आदर्श जीवन अपनाता है, करणानुयोग जानकर संसार से भयभीत हो जाता है, चरणानुयोग में प्रतिपादित चारित्र को धारण करता है। तथा द्रव्यानुयोग के अनुसार आत्मस्वरूप का ध्यान करता है, वही द्रव्यश्रुत के साध्य भावश्रुत को पाता है और परिणाम रुप में मुक्तिरमा का वरण करता है। चारों ही अनुयोग उपयोगी हैं तथा चारों की ही सापेक्ष मुख्यता गौणता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक में मोक्षमार्ग की दृष्टि से द्रव्यानुयोग की प्रधानता का कथन करते हुए कहा गया है– मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो तहाँ ही है।[14]

वहीं चारों अनुयोगों की पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से समन्विति दिखाई गई है। प्रथमानुयोग को सरागी जीवों को वतासायुक्त औषध, करणानुयोग को उपयोग की निर्मलता में कारण, चरणानुयोग को संयम धारण करने में सहायक तथा द्रव्यानुयोग को मोक्षमार्ग का मूल उपदेशक कहकर चारों की उपयोगिता का प्रतिपादन किया गया है।चरणानुयोग की सापेक्षता का कथन करते हुए सयम को निष्प्रयोजनभूत कहने वालों को करारा जवाब देते हुए कहा गया है कि 'बहुरि जो बाह्यसंयम तैं किछू सिद्धि न होय तो सर्वार्थसिद्धि के वासी देव सम्यग्द्रष्टि बहुत ज्ञानी तिनिकैं तो चौथा गुणस्थान होय अर गृहस्थ श्रावक मनुष्य के पंचम गुणस्थान होय सो कारण कहा। बहुरि तीर्थकरादि गृहस्थ पद छांड़ि काहेकौं संयम ग्रहैं।'[15] अत· चारों अनुयोग जैनागम के चार भेद हैं। इन अनुयोगों में विभिन्न दृष्टिकोणों से चर्चा की जाती है। किसी भी अनुयोग को निष्प्रयोजनभूत कहना सम्यग्ज्ञान या श्रुतज्ञान के एक चौथाई हिस्से का व्यर्थ कहने के समान है, जो किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं कहा जा सकता है।

सन्दर्भ

(1) संस्कृत हिन्दी कोश—वामन शिवराम आप्टे

(2) दि जैन साहित्य का इतिहास भाग—1 (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री) पृ 4

(3) द्रप्सांग्रह टीका, गया 42 (इत्युक्तलक्षणानुयोगचतुष्टय रूपेण चतुर्विध श्रुतज्ञानज्ञातम्)

(4) क्रियाकलाप, समाधिभक्ति पृ 297

(5) आत्मानुशासन, श्लौक 176

(6) रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 43

(7) हरिवशपुराण 10/71

(8) 'आज्ञामार्गीपदेशसूत्र बीज सक्षेप विस्तारार्थावगाढपरमावगाढ रुचिभेदात्।'
— राजवार्तिक 3/26

(9) 'तीर्थकरबलदेवादिशुभचरितोपदेशहेतु कश्रद्वाना दपदेशरुपय
— राजवार्तिक, 3/36

(10) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 44

(11) वही, श्लोक 45

(12) भावसंग्रह, गाथा 131

(13) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 46

(14) मोक्षमार्गप्रकाशक, अष्टम अधिकार पृ 15

(15) वही, पृ 14

निर्विकल्प अनुभूति कैसे हो?

डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

जगत के जीवों ने कुछ कार्य करने या न करने को धर्म मान लिया है। करने या न करने के अलावा 'होना' जिसे अंग्रेजी में 'बी' कहते हैं, भी होता है, इस ओर किसी की दृष्टि नहीं जाती। ऐसा सम्भव भी नहीं है क्योंकि 'होने' में कुछ करना नहीं पड़ता, जबकि संस्कार वश हम कुछ करने या न करने के अभ्यासी बने हैं।

कुछ करना या न करना भी सापेक्षिक है। किसी को कुछ अच्छा लगता है, किसी को कुछ और। देश और काल के अनुसार बदले हुए माहौल में करने या न करने का मापदण्ड भी बदलता रहता है, जो एक की राय में सही होता है वह दूसरे की राय में गलत सिद्ध हो जाता है। जो एक देश की परम्परा है वह दसरे देश में नही है। इस प्रक्रिया में धर्म शब्द की बडी फजीहत हुई है। जिसकी जैसी आस्था और विचार होते हैं वैसा वह कार्य व्यवहार करता है। संकीर्ण एकांगी धार्मिक विचारधारा के कारण मानव समाज को जितना अपमानित एवं संत्रस्त होना पडा है, उसकी मिसाल मिलना कठिन है।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व श्रमण संस्कृति में आचार्य कुन्द कुन्द हुए। वे आगम विद् और तत्वमर्मज्ञ तो थे ही, साथ ही धर्म-विद् और आत्म-विद् भी थे। उन्होंने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि अनेक ग्रंथों की स्वानुभूति जन्य रचना की। समयसार का अर्थ है शुद्धात्मा। आत्मा कैसे शुद्ध हो, इसका वर्णन उन्होने समयसार में किया। इस दृष्टि से समयसार चैतन्य सताओ का आद्य विज्ञान ग्रंथ है जिसे आत्म विज्ञान भी कहा जा सकता है। भौतिक विज्ञानी प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। आचार्य कुंदकुद ने उद्घाटन कर्त्ता के स्वरूप रूप धर्म का उद्घाटन किया। खोज करने वाले की खोज की। आज के वैज्ञानिकों विचारकों से अपेक्षा है कि वे आचार्य कुन्दकुन्द के आत्म रहस्य को समझ कर अपने में अपने आज को खोजें और धर्म स्वरूप वनें।

धर्म क्या है? आचार्य कुन्द कुन्द ने विभिन्न दृष्टिकोणों से धर्म के रहस्य, मर्म को व्यक्त किया। जैसे 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है, 'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् चारित्र ही वास्तविक धर्म है एवं 'दया विसुद्धो धम्मो' अर्थात् दया ही विशुद्ध धर्म है। धर्म की इन तीन व्याख्याओं में कहीं भी दान-पुण्य, धर्म-ध्यान, आदि कुछ करने या नही करने का सकेत नहीं है।

वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। इसका यह अर्थ है कि जिस वस्तु का जो स्वभाव/गुण है, वही उसका धर्म है। इसका फलित अर्थ यह हुआ कि जो स्वभाव गुण जिस वस्तु का है, वह उसी गुण/स्वभाव में स्थित रहे, यही उसका धर्म है। जल तरल और शीतल है। वह उसी रूप मे रहे, वर्फ या भाव रूप मे न रहे, यही जल का धर्म है और यह उसका चारित्र है। जल का वर्फ या भाप रूप में रहना अधर्म या विकृति है। यही स्थिति अन्य अचेतन जगत की है।

जिस प्रकार अचेतन वस्तुओं के धर्म रूप स्वभाव है, उसी प्रकार आत्मा का

भी धर्म रूप स्वभाव है। आचार्य कुन्द कुन्द के अनुसार आत्मा निश्चय से एक शुद्ध, ममतारहित और ज्ञान-दर्शन से पूर्ण है। निश्चय से वह अकर्ता, अभोक्ता है। रूप, रस, गंध एवं वर्ण से रहित चैतन्य स्वरूप ज्ञायक है। ज्ञान और दर्शन-साक्षीपना यह आत्मा के विशिष्ट गुण हैं जो सदैव उसके साथ बने रहते हैं। जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहा-वहां ज्ञान है। जहां ज्ञान है वहां आत्मा है। आत्मा और ज्ञान एक है। आत्मा के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना आत्मा नहीं। कुन्द कुन्द के अनुसार ज्ञान स्वभावी आत्मा अपने ज्ञान में स्थित रहे या आत्मा मात्र अपने को ही जानती रहे, उसका ज्ञान स्खलित न हो यही उसका धर्म है। ज्ञान,ज्ञान में रहे या मैं अपने आप में रहूँ इसके लिये कहीं कुछ करना या न करना नहीं पडता। मात्र 'होना' होता है। जब सहज रूप से ज्ञान, ज्ञान में होने लगता है तब जीवन मे स्व-धर्म का प्रवेश होता है। इस होने का प्रथम बिन्दु आत्मा साक्षात्कार कहलाता है। आत्मा साक्षात्कार को ही प्रभु मिलने की संज्ञा दी गयी है। इसे जानने और करने की क्रिया अलग-अलग है। जानना सहज होता है, उसके लिये जानने का विकल्प भी नहीं करना पडता क्योंकि विकल्प भी क्षोभ उत्पन्न करता है।

प्रश्न उठता है कि जानने या ज्ञान में ऐसा क्या हो जाता है जो अधर्ममय या अ-चरित्र या अ-दयामय कहलाने लगता है। आचार्य कुन्द कुन्द ने कहा कि ज्ञान धर्म या अधर्म रूप हों, यह इस बात पर निर्भर करता है कि ज्ञाता की श्रद्धा और ज्ञान सम्यक् है या मिथ्या। उसकी आतरिक वासना या अभिप्राय कैसा है। जो /विचार ज्ञान में आया है उसके बारे में ज्ञाता का अभिप्राय कैसा है, उसके प्रति अपनत्व का भाव है या उपेक्षा का। उसके प्रति दृष्टि रागात्मक है, द्वेषात्मक है या तटस्थ। स्वामित्व, ममत्व भाव है या उदासीनता का आदि। यदि ज्ञाता की दृष्टि ज्ञान के साथ मोह राग द्वेष युक्त हैं, असम्यक् है, तब वह ज्ञान भावो के अनुसार पुण्य पाप मय स्वरूप होगा। किन्तु यदि ज्ञाता की दृष्टि ज्ञान के प्रति उपेक्षा या तटस्थता या समतापूर्ण है, तब वह ज्ञान स्व-धर्म स्वरूप होगा। इस प्रकार जब ज्ञाता-ज्ञान -ज्ञेय एकात्म हो जाते हैं और आत्मा/ ज्ञान ज्ञान मे ही जम रम जाता है जब वह धर्म की आदर्श स्थिति होती है। ज्ञान का ज्ञान में रमना ही निश्चय चारित्र है और यही स्व-पर दया है। दया इसलिये है, कि ज्ञान मे ज्ञान के रमने पर राग-द्वेष मोह समाप्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे ज्ञाता को समस्त जीव जगत अपने ही जैसा ज्ञान स्वरूप ज्ञायक ही दिखाई देने लगता है। वहाँ हिंसा, परिग्रह आदि को स्थान ही कहाँ है?

इसी कारण दया विहीन और हिंसक को अधर्मी कहा है। ऐसे व्यक्ति स्वप्न मे भी धार्मिक नहीं हो सकते है।

धर्म और धार्मिकपने की उक्त सहज सरल व्याख्या आचार्य कुन्द-कुन्द ने की, जो मननीय एवं अनुकरणीय है। संक्षेप मे, मोह-राग द्वेष आदि विकारी भाव रहित आत्मा अपने ज्ञान स्वरूप में निरंतर स्थित तन्मय रहे, यही उसका धर्म है और यही परमेश्वरत्व है। ऐसा शुद्ध आत्मा वीतरागी, वीतद्वेषी और वीतमोही होगा।

ज्ञान स्वभावी आत्मा ज्ञान में स्थिति रहे, यही आत्मा का धर्म है, यह कथन बहुत सीधा-सरल है। परन्तु क्या यह सरल-सभव है। आत्मा में निरंतर आत्मविकार

और मनोविकार उठते रहते हैं। मन निरंतर संकल्प विकल्पों में उलझा रहता है। इन संकल्प विकल्पों के कारण हम अनंत संसार की अनंत वस्तुओं से अपना अनंत सम्बन्ध जोड़ते रहते हैं। ऐसी स्थिति में क्या यह सम्भव है कि आत्मा अपने ज्ञान में स्थित रहे और विकृत न हो। आचार्य कुन्द कुन्द कहते हैं कि हाँ, यह सम्भव है। वे कहते हैं कि जो अपनी आत्मा को जैसा देखता है, वैसा ही पाता है। शुद्धात्मा को देखने वाला शुद्धात्मा को पाता है और अशुद्धात्मा देखने वाला अशुद्धात्मा को पाता है। उनके अनुसार भेद-विज्ञान या सम्यक् समझ एक ऐसा उपकरण है जिसके द्वारा हम निर्विकल्प निरालम्ब आत्मा का दर्शन कर सकते हैं।

भेद-विज्ञान का अर्थ है कि हम अपने विकल्पात्मक ज्ञान से आत्मा-अनात्मा, ज्ञान-अज्ञान, शुद्धत्मा-मनोविकार, स्वभाव-विभाव, धर्म-अधर्म, आकुलता-अनाकुलता, उपेक्षा अपेक्षा, तत्व-अतत्व, हेय-उपादेय, आदि का ज्ञान प्राप्त कर आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझें और उस पर श्रद्धा करें। पश्चात् विकल्पों को त्याग कर आत्मस्थ हो जायें। जब तक विकल्प जाल हैं, तक तक मन में क्षोभ/तरंगे उठती रहती हैं। तंरगायमान मन आत्मा का दर्शन करने में असमर्थ है।

इस प्रकार जहॉ विराट वस्तु-स्वरूप के ज्ञान के लिये विविध दृष्टियों या नय ज्ञान की आवश्यकता होती है वहॉ आत्म दर्शन में यही ज्ञान एकांगी, सीमित एवं विकल्पात्मक होने के कारण बाधक हो जाता है। जब तक विकल्प है तब तक आकुलता है, क्षोभ है और इसे दृष्टिगत कर समयसार में गाथा 142 में आचार्य कुन्द-कुन्द कहते हैं कि जीव कर्म से बंधा है या नही बंधा है, यह नय पक्ष का कथन है, किन्तु जो [illegible] नय पक्ष का अतिक्रम करता है वह समय-सार अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्म [illegible] इसी भा[illegible] को आचार्य अमृत चन्द्र कहते हैं कि जो नयपक्षपात को छोडकर अपने [illegible] [illegible]त [illegible] कर सदा निवास करते हैं, वे साक्षात् अमृत का पान करते हैं क्योंकि [illegible] चित्त विकल्प जाल से रहित शांत हो जाता है।

विकल्प जाल अनेक प्रकार के होते हैं। कोई आत्मा को कर्म से बंधा मानता है कोई अबद्ध मानता है। कोई आत्मा को मूढ-अमूढ, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्त्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भावरूप-अभाव रूप, एक अनेक, सान्त (अंत सहित) अनन्त, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य (जानने योग्य) अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य (ज्ञान होने योग्य) अवेद्य, भात (प्रकाशवान) अभात आदि नयो से देखते हैं, किन्तु जो नयों के पक्ष-पात को छोडते हैं उन्हें चित्स्वरूप जी का चित्स्वरूप जीव का चित्स्वरूप अनुभव होता है।

आचार्य-द्वय के उक्त कथनों से स्पष्ट है कि जो व्यक्ति चित्त के होकर किसी एकांगी विचार धारा से बंधे हैं और उसे ही सर्वथा सत्य-मान रहे हैं, विकल्प से जुडे होने के कारण, उन्हें कभी भी आत्म-दर्शन करना सम्भव नहीं है। किन्तु जिनका चित निर्मल और सरल है तथा अनेकान्त के स्वरूप को समझ कर, जो जैसा है वैसा आग्रह विहीन स्वीकार करते है, उन्हें तत्व-अभ्यास, स्वाध्याय, तत्व-चिंतन एवं परमात्म भक्ति या शुद्धत्म भक्ति से निर्विकल्प आत्म साक्षात्कार हो सकता है। यही एक ऐसा राजमार्ग है जिस पर चलकर विकल्पों के बीहड़ वन में

ज्ञान-स्वरूपी आत्मा का साक्षात्कार संभव है। दुर्भाग्य से जिसने जो दृष्टि पकड रखी है, उससे वह ऊपर उठना ही नहीं चाहता। किन्तु क्या आग्रह पूर्ण नय/दृष्टियों के बबूल बोकर कोई आम्रफल के रस का पान कर सकता है, विचारणीय है।

नयातीत या पक्षातिक्रांत का क्या स्वरूप है इसका वर्णन करते हुये आचार्य कुन्द कुन्द समयसार गाथा 143 में कहते हैं कि नय पक्षों के आग्रह से रहित जीव अपने चित्स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ दोनों ही नयों के कथन मात्र जानता है परन्तु नया पक्ष को किंचित मात्र भी ग्रहण नहीं करता। उनके अनुसार जो सर्व नय पक्षों से रहित कहा गया है वह समयसार है और उस समयसार को ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान कहते हैं (स सार गाथा 144)

धर्म एवं धार्मिकपने के सार को हृदयंगम कर सभी जन अनेकान्तिक ज्ञान से विकल्पातीत ज्ञान स्वरूप का अनुभव कर समता रस का पान करें और सुखी हों, यही कामना है।

जी-5 ओ. पी. मिल्स कालोनी
अमलाई

'अनेकान्त'
आजीवन सदस्यता शुल्क : 101.00 रू.
वार्षिक मूल्य . 6 रु., इस अक का मूल्य : 1 रुपया 50 पैसे
यह अंक स्वाध्याय शालाओ एव मदिरो की माग पर निःशुल्क

सपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सपादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक : श्री भारत भूषण जैन एडवोकेट, वीर सेवा मदिर, नई दिल्ली-2
मुद्रक : मास्टर प्रिटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62

6649

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र–प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष-49 किरण-2 अप्रैल-जून 96

वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज नई दिल्ली-110002

अनेकान्त

वर्ष ४६	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२	अप्रैल-जून
किरण-२	वी.नि.सं. २५२२ वि.सं. २०५३	१९९६

गुरु-स्तुति

कबधौं मिलैं मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भवदधि पारा हो।
भोग उदास जोग जिन लीनों, छाड़ि परिग्रह भारा हो।
इन्द्रिय-दमन वमन मद कीनों, विषय-कषाय निवारा हो।।

कंचन-कांच बराबर जिनके, निंदक वंदक सारा हो।
दुर्धर तप तपि सम्यक् निज घर, मनवच तन कर धारा हो।।

ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरें, पावस तरुतर ठारा हो।
करुणा लीन, चीन त्रस थावर, ईर्यापंथ समारा हो।।

मार मार, व्रतधार शील दृढ़, मोह महामल टारा हो।
मास छमास उपास, वास वन, प्रासुक करत अहारा हो।।

आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुकल चित धारा हो।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो।।

आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो।
"दौलत" ऐसे जैन जतिन को, नित प्रति धोक हमारा हो।।

संस्थाओं के साथ सम्बन्ध

आचार्य को मुनि-संस्था (मुनि-संघ) का नेतृत्व करना पड़ता है। उसका उद्देश्य यह है कि जिन पवित्र आत्माओं ने भीषण भव-भ्रमण के कष्टों से ऊब कर शान्ति की इच्छा से मुनि-व्रत धारण किया है, या जो देश-व्रत का पालन करना चाहते हैं उनको वे शान्ति के मार्ग सम्यक् चारित्र पथ पर चलावें और उस पर चलते हुए उनके मार्ग में अनेक अतिचार रूप कंटक आ जावें तो उनका शोधन कर उनके मार्ग को अक्षुण्ण बनाये रखें तथा अपनी आत्मा को भी चारित्र पथ पर आरूढ़ रखें। इसके अतिरिक्त अन्य किसी संस्था से किसी भी प्रकार का आत्मीय सम्बन्ध रखना उनके लिए अनिष्ट है। यद्यपि विद्यालय, अनाथालय, ब्रह्मचर्याश्रम आदि संस्थाएँ धर्म सम्बन्धी हैं, तथापि वे द्रव्यादि साधनों की भित्ति पर आश्रित रहती हैं। मुनीश्वर समस्त (१४ प्रकार के अन्तरंग और १० प्रकार के बाह्य) परिग्रह के त्यागी होते हैं। यदि वे उनसे सम्बन्ध रखें तो उनके चित्त में रात-दिन उन संस्थाओं के लिए द्रव्यादि की चिन्ता बनी रहेगी। इस चिन्ता पिशाचिनी से भयभीत होकर ही तो उन्होंने वन का मार्ग लिया और वहाँ पर भी उन्होंने उसे निमन्त्रण देकर बुला लिया तो उनके गृह-त्याग का क्या फल हुआ? मुनि-पद में रह कर गृहस्थ के योग्य कार्य करना मुनि-धर्म को दूषित करना है। अत यह कार्य मुनि के लिए सर्वथा अयोग्य है। द्रव्यादि का सम्बन्ध आत्मा में मोह का जनक और मोह आत्मा का शत्रु है, इसलिए मोह के जनक कार्यों से सम्बन्ध रखना अपनी आत्मा को मोह-शत्रु के अधीन बनाना है। यह समझकर जिन कार्यों से द्रव्य (रुपये पैसे) का सम्बन्ध है, उन कार्यों से मुनियों को सदा दूर रहना चाहिए। जिस द्रव्य (रुपये पैसे आदि) के छूने मात्र से मुनि को कलंकित बताया गया है, उसका अपने साथ साक्षात् या अपने संघ के किसी व्यक्ति के द्वारा अपना सम्बन्ध रखने से क्या मुनि-पद नष्ट नहीं होता? अवश्य नष्ट होता है। इसलिए रुपये-पैसे से सम्बन्ध रखने वाला मुनि नहीं होता, वह श्रावक से भी हीन और पतित बन जाता है। व्यवहार में भी कहते हैं कि 'गृहस्थ कौडी बिन कौड़ी का और साधु कौड़ी रखे तो कौड़ी का।' साधु तो वही होता है जिसके पास तिल तुष मात्र भी परिग्रह नहीं होता, फिर परिग्रह रखने वाला कैसे मुनि हो सकता है? किन्तु क्या करें।

फूटी आँख विवेक, की सूझ पड़े नहिं पन्थ।
ऊंट बलध लादत फिरैं, तिनसों कहत महन्त।।

यदि कोई अत्यन्त आवश्यक धर्म कार्य व ज्ञानवृद्धि का कार्य करवाना हो तो वह कार्य गृहस्थ को सौंप देना चाहिए। उसका भार अपने पर रखना परिग्रह का धारण करना ही है। जब दिगम्बर मुनि ही परिग्रह रखने लग जावें तब अन्य धर्मों के साधुओं से इस में क्या अन्तर रहा?

—'संयम प्रकाश' से साभार

पालघाट जिले में जैनधर्म

—श्री राजमल जैन

पालक्काड का चंद्रप्रभ कोविल (मंदिर)

केरल की उत्तरी अथवा दक्षिणी सीमा में प्रवेश के लिए यह नगर प्रवेश द्वार के समान है। पाल वृक्षों के जंगलों के कारण यह पालक्काड कहलाता है। यहां जो दर्रा हे, वह शेष भारत से करेल को मानों पृथक ही करता है। वैसे पश्चिमी घाट पर्वत माला में केरल और उसकी सीमा को तमिल एवं कर्नाटक प्रदेश से पृथक करने वाले 18 दर्रे हैं। इस पर्वत श्रृंखला के कारण भी केरल की दृश्यावली सुंदर बन गई है। रेलमार्ग द्वारा यात्रा करने पर तमिलनाडु के कोयम्बतुर जंक्शन के बाद वाळयार नामक स्थान से केरल की सीमा प्रारंभ होती है। नगर का मलयालम नाम पालक्काड है। वास्तव में पालक्काड शहर रेलवे स्टेशन से पांच किलोमीटर की दूरी पर है। पालघाट स्टेशन का पुराना नाम ओलवक्कोड है। रेलवे समयसारणी में अभी भी यह नाम देखा गया है। जैन मंदिर के लिए पालघाट जंक्शन पर उतरना चाहिए न कि पालघाट टाउन पर जो कि शहर का स्टेशन हैं

चंद्रप्रभु मंदिर जैनमेडु नामक मुहल्ले में स्थित है। मेडु का अर्थ है टीला। वैसे यह मंदिर कुछ ऊंचे स्थान पर अवस्थित है। इसी स्थान का प्राचीन नाम माणिक्यपट्टणम् बताया जाता है। कुछ लोग अब भी इस नाम का प्रयोग कर देते हैं क्योंकि यहां रत्नों का व्यापार होता था जो कि अधिकांश जैनों के हाथों में था। जैन मंदिर का परिसर माणिक्यपट्टणम् ही कहलाता है। आजकल इस स्थान पर तमिलभाषियों की आबादी अधिक हो गई। उन्होंने इस जगह का नाम बदलकर चुण्णांपुतरा कर दिया है। इसी मुहल्ले को वटक्कनतेर बड़ा बाजार भी कहते हैं। यह नाम आसपास के वर्तमान गांव का है जिसका उल्लेख डाक आदि के संदर्भ में किया जाता है। केरल गजेटियर में तमिल नाम का ही प्रयोग किया गया है। इतने नामों के होते हुए पी बसवाले और अन्य वाहनचालक जैनमेड का प्रयोग करते हैं। वे इस नाम से भलीभांति परिचित हैं। यात्री को यह जानकारी ध्यान में रखनी चाहिए। जैनमेड़ पालककाड शहर और ओलककोड स्टेशन के बीच में पड़ता है ओर शहर से आनेवाले मुख्य मार्ग पर स्थित है। ध्यान रहे वाहनचालक पालघाट जंक्शन को ओलककोड कहते हैं ओर उससे पहले निला या कल्पात्ति नदी के दक्षिणी किनारे पर जेनमेड़ स्थित है। वह नदी स्टेशन से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर आती है।

शिव मंदिर में चरण

जैनमेड़ के रास्ते की उपर्युक्त नदी में एक शिव मंदिर है जो कि कल्पत्ति विश्वनाथ के नाम से जाना जाता है। इस मंदिर के अंदर जो चरण हैं, वे संभवतः जैन हैं। शिव मंदिर में चरण नहीं देखे। एकाध अपवाद हो सकता है। जैन मंदिरों में एवं तीर्थस्थानों पर चरण बहुत-सी जगहों पर स्थापित पाए जाते हैं। वह प्रथा अत्यंत प्राचीन है। वैसे भी कल्पत्ति की व्युत्पत्ति यह बताती है कि इस मंदिर की विशेषता चरणों के कारण है न कि शिवजी के कारण। कल का अर्थ है पाषाण ओर पति से आशय है पाद यानी चरण। कुछ विद्वानों का मत है कि यहां जो रथोत्सव होता है, वह जैन रथोत्सव से समानता रखता है। यह बताया जाता है कि इस मंदिर का पुरातत्व भी जैन पुरातत्व जैसा लगता है। इस विषय में शोध की आवश्यकता है। संभवतः उथल-पुथल के दिनों में यह जैन मंदिर से शैव मंदिर हो गया हो।

चंद्रप्रभु मंदिर

वर्तमान मंदिर कितना प्राचीन है, इसका निश्चय कर सकना कठिन है क्योंकि इसका अनेक बार जीर्णोद्धार किया गया है। यह बात मंदिर को देखने पर स्पष्ट हो जाती है। खेद का विषय है कि केरल सरकार द्वारा प्रकाशित गजेटियर के दूसरे खंड में चंद्रप्रभु के आगे कोष्ठक में विष्णु लिख दिया गया है। विष्णु से इस कोविल का कोई भी संबंध नहीं है न भूतकाल में कोई संबंध रहा है।

इस स्थान से एक जिन प्रतिमा भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग को प्राप्त हुई थी जिसके संबंध में केरल के मंदिरों के विशेषज्ञ श्री एच सरकार का यह मत है कि वह नौवीं शताब्दी की हो सकती है। उनका अनुमान प्रतिमा की निर्माण शैली पर आधारित है। प्रतिमा के कंधे गोलाई लिए हुए हैं तथा शरीर स्थूल नहीं है। वह पर्यकासन में है और पुरातत्व विभाग की सपत्ति है। श्री सरकार उसे उत्तर भारतीय शैली में निर्मित मानते हैं। वह प्रमाणित करती है कि पालघाट में जैन-धर्म बारह सौ वर्ष पूर्व अस्तित्व में था।

कहा जाता है कि किसी समय माणिक्यपट्टणम् में 250 जैन परिवार टीपू सुलतान के आक्रमण से पहले रहते थे। कितु इस समय वहां केवल एक ही परिवार रह गया है जो कि इसी मंदिर के अहाते मे निवास करता है। इस परिवार का सबसे बडा सदस्य "संघनायक" की पदवी धारण करता है। जहां किसी समय माणिक्य का व्यापार होता था, वहां आज इमारती लकडी के कारखाने लगे हुए हैं। उपर्युक्त संघनायक परिवार के क्रमागत वंशज श्री जिनराजदास ने प्रस्तुत लेखक को बताया था कि चंद्रप्रभ मंदिर कम से कम एक हजार वर्ष प्राचीन है। उसका निर्माण जैन सघम् या समाज ने कराया था। उसके तत्कालीन संघनायक थे श्री इज्जण सट्टर (Ijanna suttur (Somear)

केरल के इतिहास को काफी खोजबीन के बाद जिलेवार सरल शैली में

मलयालम में प्रस्तुत करने वाले लेखक श्री वालय ने एक महत्वपूर्ण सूचना यह दी है कि जैन धर्मावलबियों की प्रार्थना में इस प्रकार उल्लेख है— **"इज्जण सट्टरू, लक्कप्प सट्टरू, चिक्कुपायप्प माणिक्कपट्टण समस्त श्रावक श्रावकीय निरग यशोवृद्धि पुण्योवृद्धि शांति निमस्यार्थ पाहि।"** इस प्रकार की प्रार्थना प्रचलित होने में तथा इस मंदिर की लोकप्रियता में अवश्यक ही कुछ शताब्दियों का समय लगा होगा। अतः इस कोविल की प्राचीनता में संदेह की गुंजाइश नहीं जान पड़ती।

केरल सरकार के एक प्रकाशन में यह उल्लेख है कि चुण्णांपुतरा (जैनमेडु) के निकट जो जैन कोविल है, वह इस तथ्य को उजागर करता है कि पांच सौ वर्ष पूर्व मैसूर के राजा ने जब धार्मिक अत्याचार किए थे तब उन अत्याचारों से बचने के लिए पालघाट के राजा ने लोगों को उदारतापूर्वक आश्रय दिया था। स्पष्ट है, यहां प्रभावशाली और बहुसंख्य जिनधर्मी रहे होंगे और उन्होंने अपने साधर्मी बंधुओं की सहायता स्वयं भी की होगी और अपने राजा से भी करवाई होगी। किंतु इतिहास ने फिर करवट ली।

सन् 1752 में कालकट के शासक जामोरिन ने पालघाट पर आक्रमण किया। तब यहां के शासक ने हैदरअली से सहायता मांगी। उसने सहायता तो की मगर कुछ ही समय में उसने इस प्रदेश पर अपना कब्जा जमा लिया। कहा जाता है कि हैदर के हमले के समय यहां के जैन भाग कर अन्यत्र चले गए ताकि उनका धर्म परिवर्तन नहीं किया जा सके। हैदरअली के बाद उसका पुत्र टीपू सुल्तान उससे भी आगे बढ गया। उसने मंदिर की नक्काशीदार दीवालों को तुडवा दिया और उसकी ग्रेनाइट सामग्री का उपयोग अपने यहां जो किला बनवाया उसमें किया। इस तथ्य का उल्लेख केरल हिस्ट्री असोसिएशन द्वारा प्रकाशित ग्रंथ केरलचरित्रम् में भी है।

वर्तमान मंदिर या कोविल से लगभग दो फर्लांग की दूरी पर मुत्तुप्पट्टणम् नामक एक प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र था। वहां के एक जैन मंदिर को टीपू सुल्तानने पूरी तरह नष्ट कर दिया। अब यह स्थान कुल्लमपुरम् के नाम से जाना जाता हैं। इस समय उपर्युक्त मंदिर के अवशेष के रूप में केवल बीलपीठ और कुछ पाषाण खड ही शेष बचे हैं। इतिहासकारों का मत है कि यहां जैनों की अच्छी आबादी रही होगी। श्री वालय के अनुसार वे खंडहर 200 मीटर उत्तर की ओर एक बलिपीठ के अवशेष में विलीन हैं। इससे यह आभास होता है कि यहां जैनों की दो बडी बस्तियां थीं और एक हजार सौ से भी अधिक वर्षों पूर्व यहां जैनमत का खूब प्रचार था। माणिक्यपट्टणम् या मुतुप्पट्टणम् में मोतियों का व्यापार होता था। कहा जाता है कि टीपु सुल्तान के आक्रमण से पहले वहां 250 जैन परिवार निवास करते थे।

बीसवीं सदी के प्रारंभ में पालघाट में जिनधर्मियों की आबादी में कमी हो गई। सन् 1908 में प्रकाशित मलबार गजेटियर में यह सूचना है कि चंद्रनाथ मंदिर से पालघाट के पंद्रह और छह मील की दूरी पर स्थित मुंडूर नामक स्थान के जैनपरिवार

लाभान्वित होते थे तथा चंद्रनाथ मंदिर का जीर्णोद्धार मुंडुर के किसी श्रावक ने करवाया था।

मंदिर की निर्मिति

पालघाट का जैन मंदिर आठवें तीर्थंकर के नाम पर जैन टेम्पल कहलाता है। मंदिर के बाहर अंग्रेजी में जैन टैम्पल लिखा हुआ है। पूजन के बाद पहुंचने पर अर्चक या पुजारी से कहकर मंदिर खुलवाना पडता है। अहाते से लगा हुआ ही श्री जिनराजदास का घर है। चंद्रनाथ स्वामी मंदिर ग्रेनाइट पत्थर से निर्मित है। वह बत्तीस फीट लंबा और बीस फीट चौड़ा है। ऊंचाई भी अधिक नहीं है। इस समय जो छत है, वह कंक्रीट की बना दी गई है। अनेकों बार जीर्णोद्धार के कारण उसकी प्राचीनता के आंकलन में कठिनाई उत्पन्न हो गई है। छत का भार आठ ग्रेनाइट स्तंभो की ही दीवालों पर है। मंदिर पर शिखर भी नहीं है। इसी प्रकार उसकी बाहरी दीवालों पर कोई नक्काशी नहीं है। उसकी अंदरूनी दीवालों पर भी बहुत कम अंकन है। इस मंदिर में या उसके स्तंभों पर कोई शिलालेख नहीं है। यहां जो भी शिलालेख रहे होंगे, उन्हें टीपू सुल्तान ने पालघाट स्थित उसके बनवाए हुए किले में लगवा दिए। उस किले में ब्राह्मी में शिलालेख पाए भी गए हैं।

चंद्रप्रभु मंदिर के सामने बलिपीठ है। उसके बाद एक चबुतरा है जिसके जगले पर हाथियों का अंकन है। इस चबूतरे के संबंध में केरल के स्मारकों के विशेषज्ञ श्री एच. सी सरकार ने पुरातत्व विभाग द्वारा प्रकाशित एक पुस्तिका में यह मत व्यक्त किया है कि यह चबूतरा किसी ऐसे प्राचीन मंदिर का अधिष्ठान है जो कि नष्ट हो गया।

चंद्रप्रभु मंदिर में कुल चार छोटे-छोटे कक्ष हैं। गर्भगृह में मंदिर के मूलनायक चंद्रप्रभु की पद्मासन प्रतिमा श्वेत पाषाण की है। उसके पीछे एक फलक है जिस पर स्तंभों पर आधारित तोरण एवं कीर्तिमुख हैं तथा उसके दोनों ओर अपने मुख से जलधारा छोडते मकर बने हैं। यह अलकरण आकर्षक है। प्रतिमा के सामने ताबे का एक सिद्धचक्र है। मूर्ति के सामने एक चौखटा लगा है जिसमें तीनों ओर दीपक जलाए जा सकते हैं। बताया जाता है कि गर्भगृह में छह फीट ऊंची प्रतिमा थी जो कि मुस्लिम आक्रमण के समय सुरक्षा के लिए अन्यत्र ले जाई गई थी किंतु इस समय वह कहां है इसका पता नहीं पड सका। गर्भगृह के सरदल पर आदिनाथ की एक लघु मुर्ति पद्मासन में उत्कीर्ण है।

गर्भगृह से आगे के कोष्ठ में एक कोने में दसवे तीर्थंकर शीतलनाथ की यक्षिणी ज्वालाप्रमालिनी की मूर्ति है तो दूसरे कोने में सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के यक्ष की प्रतिमा स्थापित है। दाहिनी ओर पांच नाग हैं जिनकी पाषाण प्रतिकृति पर फूल चढाए जाते हैं। स्मरण रहे, सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा अंकन पांच फणों से युक्त किया जाता है।

उपर्युक्त कोष्ठ के बीच में पाषाण की एक साधारण सी वेदी पर एक चौबीसी स्थापित है। उसके मूलनायक ऋषभदेव हैं। वे कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं और शेष

तीर्थंकर पद्मासन में हैं। आदिनाथ के घुटनों के नीचे दो चंवरधारी अंकित हैं। चौबीसी के शीर्षभाग पर कीर्तिमान् है।

उपरोक्तलिखित कोष्ठ से आगे जो कोष्ठ है उसमें दिवार के पास एक ओर घोड़े पर सवार ब्रह्मदेव हैं तो दूसरी ओर भगवान पार्श्वनाथ की शासनदेवी पद्मावती प्रतिष्ठित हैं। महादेवी पद्मावती के मुकुट पर तीर्थंकर पार्श्वनाथ अंकित हैं। यहां पाषाण मुकुट के ऊपर एक ओर पीतल का मुकुट देवी को लगा दिया गया है। एक अत्यंत साधारण वेदी पर महावीर, पार्श्वनाथ और सिद्ध परमेष्ठी की प्रतिमाएं स्थापित हैं। बाहुबली भी कायोत्सर्ग अवस्था में विराजित हैं। इसी फलक पर दोनों ओर पार्श्वनाथ के यक्ष धरणेंद्र और यक्षिणी पद्मावती भी अंकित हैं। चंद्रप्रभु की एक छोटी धातु प्रतिमा भी इसी कक्ष में स्थापित है। यहां यक्ष-यक्षी की जो मूर्तियां हैं, वे काले पाषाण की हैं ओर बहुत प्राचीन बताई जाती हैं।

कोविल में प्रवेश करते समय के पहले खाली प्रकोष्ठ में दो स्तंभों पर मामूली नक्काशी है। एक स्तंभ पर ब्रहमदेव उत्कीर्ण हैं। वहीं घंटा लगा है जिसे कन्नड में जयगंड कहते हैं।

मुखमंडल सीमेट कंक्रीट का नया बना है। उसमें अंदर की ओर अर्धचंद्र और स्वस्तिक बनाए गए हैं। मंदिर से बाहर के अहाते मे क्षेत्रपाल की भी एक मूर्ति है।

पालककाड का यह जैन कोविल या मंदिर साधारण अवश्य है किंतु वह साधारणता सभवत इसकी प्राचीनता ही सिद्ध करती है। केवल पाषाण से तथा बहुंत कम अंलकरण से निर्मित यह मंदिर अति प्राचीन होगा और उस समय की सूचना देता जान पडता है जब अंलकरण कला का इतना विकास नहीं हुआ होगा। इसके अतिरिक्त वह अनेक युगों और समय की गहरी, विध्वंसकारी घटनाओं का भी साक्षी जान पडता है। सभवत किसी अदृष्य शक्ति ने इसकी रक्षा की होगी।

अनुश्रुति है कि इस कोविल में विद्यानंदि, समंतभद्र जैसे आचार्यो का भी आगमन हुआ था।

मंदिर के पास ही अडतीस फीट गहरा एक कुआ है जिसका पानी कभी नहीं सूखता। उसके आसपास के कुओ का पानी सूख जाता है। उसमें उतरने के लिए सीढियां भी बनी हुई है।

कोविल मे पूजन के समय फूल, अंगूर और काजू आदि फल चढ़ाए जाते हैं।

इस स्थान पर ठहरने की कोई व्यवस्था नहीं है। चंद्रप्रभ मदिर का प्रबंध एक ट्रस्ट करता है। मंदिर और ट्रस्ट का पता निम्न प्रकार है—

Chandranath Jain Temple,
Jain Medu,
Vadakkan thera,
P.O. Palaghat, Pin - 678 812,
(Kerala).

उपर्युक्त कोविल के सामने की कलपट्टा के परम जिनधर्मप्रेमी श्री शांतिवर्मा

ने एक होस्टल का निर्माण करा दिया है जो कास्मोपोलिटन होस्टल कहलाता है।

जैन सामग्री से भी निर्मित टीपू सुल्तान का किला

पालककाड में ही शहर से लगा हुआ एक किला है जो कि टीपू सूल्तान के किले के नाम से जाना जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि इस किले के निर्माण में मणिक्यपट्टणम् नामक जैन कोविल की सामग्री का उपयोग टीपू सूल्तान ने किया है। उसके कुछ चिन्हों पर किले चलकर एक नजर डालें। यह किला जैनमेड से लगभग छह किलोमीटर की दूरी पर है। उसके पास का मैदान फोर्ट मैदान कहलाता है। बसें आदि साधन उपलब्ध हैं। कहा जाता है कि यह किला बहुत प्राचीन है। हैदरआली ने इसे ठीक-ठाक कराया और टीपू सूल्तान ने इसे नया रूप दिया। अंग्रेजों ने भी इसे अपनी सुविधा के अनुसार ढाला। इस कारण वहां अग्रेजी कला भी दिखाई देती है। आजकल इसमें रजिस्ट्रेशन कार्यालय लगता है। यह टीपू कांट कहलाता है।

किले का मुख्य द्वार लकड़ी का बना हुआ है। इसके ऊपर बाई ओर सुंदर नक्काशीवाले पाषाण जडे हैं। कुछ पर आमलक जैसी रचना है। कुछ शिखर भी दिखाई देते हैं। संभवत· वे देवकुलिकाओ के हों। बीच में दक्षिण भारतीय ढग के आले हैं जिन पर मेहराव जैसी रचना जान पडती है। दाहिनी ओर की रचना में चौकोर शिखर स्पष्ट देखे जा सकते हैं। मुख्य प्रवेश द्वार के दाहिनी ओर के बरामदे में मीन युगल और एक अतिरिक्त मीन का उत्कीर्णन है। बांई तरफ के नीचे के स्तंभो पर कमल का अंकन स्पष्ट देखा जा सकता है। कुछ स्थानो पर चित्रकारी मिट भी गई है।

इस किले के प्रांगण की दीवाल में दो हाथी लक्ष्मी का अभिषेक करते दिखाई पडते हैं। स्मरण रहे, वह दृश्य तीर्थकर की माता के सोलह स्वपनों में से एक है ओर जैन मदिरों मे उत्कीर्णन के लिए एक प्रिय विषय है। वहां एक रचना तोरण जैसी भी है। सबसे अत के गेट में दो स्तभों के नीचे कमल अकित हैं। उससे आगे के सरदल पर भी कमल है और कुछ लेख-सा जान पडता है। एक छोटी कोठरी में कमल चित्रित है। जैनों के लगभग सभी प्रिय प्रतीक जैसे कमल, मीन युगल, अभिषेक करते हाथी, देवकुलिकाओ के शिखर आदि उपस्थित है। इनसे भी इस बात की पुष्टि होती है कि जैन कोविल या मदिर की समग्री का प्रयोग इस किले के निर्माण या अपने अनुरूप निर्मिति मे किया गया है। समीपस्थ राज्य कर्नाटक के बेलगांव नामक शहर में जो किला है, उसमें जैन मूर्तियोंवाले पाषाण अनेक स्थलों पर देखे जा सकते हैं।

प्राचीन महावीर, पार्श्व शिलालेख

पालककाड जिले के काबस्सेरी अंशम् (गाव) के पास ही एक पहाडी का नाम एककिनुन्नु है जिसका अर्थ होता है मंदिरोंवाली पहाडी। उस पर एक भग्न मंदिर स्थित है। स्थानीय लोग उसे चकिकवार तोट्टम् या कुंडम् कहते हैं। केरल के

पुरातत्त्व विभाग ने यहां के इस भग्न मंदिर से पार्श्वनाथ और महावीर की सुंदर प्रतिमाएं ढूंढ निकाली हैं। इनका विवरण श्री एन जी उन्नितन ने जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री में किया है जो निम्नप्रकार है।

महावीर स्वामी की प्रतिमा पर्यकासन में है और एक साधारण किंतु सुनिर्मित भद्रासन पर विराजमान है। मूर्ति सौदर्यपूर्ण है और उसके अंग-प्रत्यंग उचित अनुपात में सुंदर ढंग से गढे गए है। वह आत्मध्यान में लीन दिखाई गई है। चेहरा गोल है और कान लंबे तथा कुछ विस्तृत हैं एवं कंधे चौकोर हैं तथा शरीर का अंकन कलात्मक है। मूर्ति पर श्रीवत्स जैसा लांछन या पहिचान चिन्ह नहीं है। उसका अंकन तरूण अवस्था का है जो कि जैन मूर्ति कला के सिद्धांतों के अनुसार है। उस पर छत्रत्रयी है। महावीर स्वामी का पहिचान चिन्ह सिंह भी अंकित है। प्रतिमा के दोनों ओर चंवरधारी गंधर्वों का अंकन किया गया है। मूर्ति के अनुपात, कला आदि से अनुमान होता है कि वह मूर्ति नौवीं या दसवीं शताब्दी की होगी। महावीर के पादमूल में अपने दोनों पंजे ऊपर उठाए सिंह भी प्रदर्शित हैं।

पार्श्वनाथ की कार्यत्सर्ग प्रतिमा अच्छी हालत में नहीं है। वह संपूर्ण तो है कितु कहीं-कहीं से चटक गई है। मूर्ति पर जैन प्रतिमा के सामान्य चिन्ह जैसे श्रीवत्स आदि नहीं हैं। वह वस्त्रहीन है एवं ध्यानस्थ है। उसका चेहरा गोल है, कंधे सीधे हैं। अंग-प्रत्यंग का अंकन कलात्मक है। प्रतिमा के ऊपर तीन फणों की फणावली है तथा पार्श्वनाथ के शासनदेवता और शासनदेवी धरणेंद्रएवं पद्मावती का अंकन भी नहीं है। वैसे उपर्युक्त देवी-देवता का पार्श्व के साथ अंकन आवश्यक नहीं है।

महावीर और पार्श्व की ये दोनों मूर्तियां त्रिशूर म्यूजियम या संग्रहालय में रख दी गई हैं। वहां से प्राप्त शिलालेख भी इस सग्रहालय में सुरक्षित है। केरल के पुरातत्व विभाग को मंदिर के स्तंभ, बीम आदि इधर-उधर बिखरे पडे मिले थे। वहां जो शिलालेख था, वह भारत सरकार के पुरालेखविद या एपिग्राफिस्ट को 1995 में प्राप्त हुआ वह प्रचार लिपि वट्टेलूत्त में है। इस शिलालेख के प्रारंभ में स्वस्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। कालीकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो नारायणन ने इस अप्रकाशित लेख का जो मूल पाठ दिया है, उसके अनुसार वह शिलालेख 21 पंक्तियों का है। वह संपूर्ण नहीं है और 23 स्थानों पर त्रुटित है। इस लेख में न तो कोई संवत् आदि प्रतीत होता है ओर न ही किसी राजा या राजवंश का नाम। संभव है वह जानकारी मिट गई हो फिर भी श्री नारायण ने वह अर्थ निकाला है कि वह लेख तिरुक्कुणावाय तथा अन्य अनेक संस्थाओं की सभा में किया गए एक करार है। इसमें वंकचियर समाज की पककियक, जो कि हिंदू-भिन्न मंदिर होते थे, तथा उनकी संपत्ति के संबंध में एक करार है। उसमें कहा गया है कि जो इसका उल्लघन करेगा, वह गो हत्या तथा पांच पापों का दोषी होगा। स्मरण रहे, जैनधर्म में पांच व्रतों के विरूद्ध आचरण को पांच पापों की संज्ञा दी गई है।

श्री नारायणन् के जिस तिरुकुणावाय का उल्लेख किया है, वह जैन मंदिर या और अन्य कोविलों के लिए एक आदर्श था। उन्हीं के शब्दों में, "Tirukknavay, which formed the model for these pallikal was also a Jain temple." (Re-interpretations in South Indian History, p.69. 1977)

वंळचियर समाज के संबंध में एक अन्य शिलालेख में भी उल्लेख आया है। किसी समय यह जाति दक्षिण भारत की एक प्रमुख व्यापारी जाति थी और जैनधर्म की अनुयायी थी। एडगर थूर्सटन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Castes and tribes of South India में यह उल्लेख किया है कि वळंचियर जाति के कुछ लोग अपने नाम के आगे जोति नगरत्तर (प्रकाशयुक्त नगर के निवासी) तथा विरूविलकक़ु अर्थात् पीकादीपों के निवासी जैसी उपाधियों का प्रयोग करते थे। शायद वे महावीर निर्वाण की उस स्मृति को संजोण् हुए थे जो कि उस समय असंख्य द्वीप प्रज्वलित किएजाने से संबंधित हैं इस संबंध में डॉ. कुरुप का कथन विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है– "Such a prosperous community which had been a patron of Jainism was later merged in the hierarchical structure of Hindu society, the Vanchiyars are known even by their caste nae Navutyan or Velakkattaalavan (विळक्कितततसवन) which means they had later become barbers to the Nayars and the members of the high caste. Many of them called themselves nayars in South malabar and returned to the main caste of Nayars. Then reduction of a prosperous community to penury and its nenial occupation might have been due to their non-adherence to a Brahmanical religion." (p.4, Aspects of Kerala History and Culture).

उपर्युक्त उदाहरण से सहज ही संभवतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आलत्तर और उसके आसपास के क्षेत्रों में व्यापार करने वाले जैन काफी संख्या में थे, उनके अनेक मंदिर या कोविल थे और विभिन्न स्थानों के मंदिरों आदि की व्यवस्था, उनका रख-रखाव आदि कार्य भी अनेक स्थानों की मिली-जुली परिषद या सभा किया करती थी।

आलत्तर के उपर्युक्त शिलालेख में पांच का उल्लेख है। जैनधर्म के अनुसार "अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोव्ययः" (समाधिशतक 83) अर्थात् अव्रत यानी व्रतों कापालन नहीं करना अपुण्य या पाप है और व्रतों का पालन करना पुण्य है तथा दोनों प्रकार के कर्मों का नष्ट होना मोक्ष है। व्रत में निम्नलिखित सम्मिलित हैं– हिंसा का त्याग, सत्य, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। मूलाराधना नामक आचार संबंधी ग्रंथ में कहा गया है– हिंसाविरदि सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं चं संगविमुत्तों य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता। गृहस्थ इनका यथाशक्ति पालन करते हैं तो ये अणुव्रत कहलाते हैं। मुनि इनका पूर्णरूप से पालन करते हैं तो ये महाव्रत कहे जाते हैं। इनसे विपरीत आचरण अव्रत या पाप है। शिलालेख में इन्हीं पांच पापों की ओर संकेत किया गया है। वळंचियर जाति के जैन इनसे बचते रहे होंगे।

ईश्वरनकोट्टा

ईश्वरकोट्टा या ईश्वरकोड (Isvarankotta/Isvarankode) का अर्थ होता है ईश्वर का मंदिर। यह स्थान पालक्काड से लगभग बारह कि.मी. की दूरी पर स्थित हैं पालक्काड के आसपास का क्षेत्र ओलक्कोड कहलाता है। वहीं से कालीकट या कोभिक्कोड से त्रिरशूर सड़क गुजरती है। उसी संड़क पर मुंडूर से आगे यह स्थान है। वहां की एक पहाड़ी पर एक जैन मंदिर या कोविल के भगनावेश हैं। यहां आदिनाथ और नेमिनाथ की दो पद्मासन प्रतिमाओं को स्थानीय नंपूतिरि ब्राह्मण शिव और क्षेत्रपाल की प्रतिमाएं मानकर उनकी पूजा करते हैं।

उपर्युक्त स्थान की जैन तीर्थंकर प्रतिमा के साथ अशोक वृक्ष का अंकन है। ध्यानस्थ होने के कारण भी विद्वान इन्हें तीर्थंकर प्रतिमा ही मानते हैं। केरल में इसी प्रकार के उदाहरण और भी हैं। यथा स्थान उनका उल्लेख इस पुस्तक में किया गया है।

पास्वश्शेरी में चद्रप्रभु अरुयप्पा के रूप में पूजित

पालककाड से त्रिरशूर जाने वाली सडक पर पालघाट से लगभग 29 कि. मी की दूरी पर यह स्थान है। यहां का पास्वश्शेरी पळ्कि भगवती कोविल किसी समय जैन मंदिर था। किंतु अब यहां की मुख्य देवता भगवती है। किसी समय यहां चंद्रप्रभु प्रतिष्ठित रहे होगे। इन दिनों उन्हें मुख्य मदिर से बाहर एक छतरहित अहाते मे रख दिया गया है। पंतिमा पर चंद्रप्रभु का पहिचान चिन्ह अर्धचंद्र पादपीठ पर अंकित है। तीर्थंकर प्रतिमा पर तीन छत्रों को भी देखा जा सकता है।

खेद का विषय है कि 1986 में प्रकाशित केरल स्टेट गजेटियर खंड दो के अंत में इस प्रतिमा का जो चित्र छपा है, उसके नीचे छपा है ठनककीं ज च्तनअेमतल जैन प्रतिमाविज्ञान या जैन कला से परिचित कोई भी व्यक्ति इस प्रतिमा की पहिचान तीर्थंकर प्रतिमा के रुप में कर सकता है। हो सकता है, संपादक ने भूल करदी हो किंतु भ्रांति तो उत्पन्न हो ही गई।

पास्वश्शेरी के निवासियों द्वारा इस प्रतिमा की उपासना शास्ता या अरूयप्पा के रूप में की जाती है। यह कोविल कब भगवती कोविल बना इसकी जानकारी उपलब्ध नहीं है।

पालककाड के जनजीवन पर जैन प्रभाव अधिक

जैन श्राविका कण्णगि और कोलवन की अमर गाथा का प्रभाव पूरे केरल में परिलक्षित है। किंतु इस जिले में उनकी करूण कहानी संबंधी लोकगीत बहुत प्रचलित हैं। कठपुतली प्रदर्शनों में भी कुछ परिवर्तनों के साथ यह गाथा गाली मंदिरों के बाहर गाई और प्रदर्शित की जाती है। इस दंपति की विस्तृत कहानी के लिए देखिए कोडगल्लूर नामक प्रकरण। उकस तमिलनाडू और श्रीलंका तक विस्तृत है।

कुन्दकुन्दकृत नियमसार में "नियम" की अवधारणा

—डॉ. ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार'

नियमसार शौरसेनी प्राकृत गाथा निबद्ध श्रमणाचार विषयक आचार्य कुन्दकुन्द की विशिष्ट रचना है। आचार्य ने स्वयं इसे "णियमसार" नाम दिया है। इसका परिमाण मात्र 187 प्राकृत गाथा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने विषय की दृष्टि से इसमें कोई विभाजन नहीं किया है। उनकी भाषा, सरस, सरल एवं प्रवाहपूर्ण है। नियमसार ग्रन्थ पद्मप्रभु मलधारिदेव की तात्पर्यवृत्ति नामक सस्कृत टीका है। यह टीका गद्य-पद्यमय है। प्रत्येक गाथा की टीका के बाद एक या अधिक श्लोको द्वारा विषय को स्पष्ट किया गया है। टीकाकार ने स्वरचित संस्कृत श्लोकों मे विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। सस्कृत टीका मे श्लोकों की कुल सख्या 311 है। विषय की दृष्टि से टीकाकार ने पूरे नियमसार को चार अधिकारो में विभाजित किया है।

नियमसार को स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने "श्रुत" कहा है।[1] संस्कृत टीकाकार ने इसे भागवत शास्त्र कहा है और इसके अध्ययन का फल शाश्वत सुख बताया है।[2] संकृत टीका की पीठिका मे इसे परमागम भी कहा गया है।[3] इससे ग्रन्थ का वैशिष्ट्य स्वयमेव प्रमाणित हो जाता है।

नियमसार मे नियम की व्याख्या करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि— **"णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।"**[4] अर्थात् नियम से करने योग्य जो कार्य है, वह "नियम" है। वह "नियम" ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। नियम शब्द से आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का प्रतिपादन किया है। पुन· वे कहते है कि —**"विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं।"**[5] अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का परिहार करने के लिए "सार" यह वचन (पद) कहा है। आगे आचार्य कहते है—

णियमं मोक्खउवायो तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं।
एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेय परुवणा होइ।।[6]

अर्थात् नियम मोक्ष का उपाय है और उसका फल परमनिर्वाण होता है। इन तीनों सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र में से प्रत्येक की प्ररूपणा होती

है। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को आचार्य ने नियम या मोक्षोपाय या मोक्षमार्ग कहा है। मोक्षमार्ग के अर्थ में नियम शब्द का प्रयोग कुन्दकुन्द की अपनी विशेषता है, क्योंकि अन्य किसी भी ग्रन्थकार ने उक्त सन्दर्भ में नियम शब्द का प्रयोग नहीं किया है। नियमसार में व्यवहार नय और निश्चय नय की दृष्टि से नियम का विवेचन किया गया है।

निश्चय नय की दृष्टि से अपनी आत्मा को देखना, उसे जानना और उसी का आचरण करना, मोक्षमार्ग है, रत्नत्रय है, नियम है। अतः आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना, जानना और आचरण करना, निश्चय नियम है। आचार्य कहते हैं कि शुभ और अशुभ वचन रचना एवं रागादि भावों का निवारण करके अपनी आत्मा का ध्यान करना निश्चय नियम है।[7] समयसार[8] में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तो व्यवहारनय से मोक्षमार्ग हैं। निश्चय नय से शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा ही मोक्षमार्ग है, इसलिए आत्मा को ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वरूप जानकर सेवन करना चाहिए। वहीं पर एक उदाहरण देकर इसे और अधिक स्पष्ट किया है। जिस प्रकार धन चाहने वाला राजा को जानकर उसका श्रद्धान करता है और उसके बाद प्रयत्नपूर्वक उसी की सेवा करता है। इसी प्रकार आत्मा रूपी राजा को जानना, मानना और सेवन करना चाहिए। यही निश्चय नियम है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को पृथक् मानना व्यवहार नय से नियम है।

सम्यग्दर्शन : आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों मे सम्यग्दर्शन के लिए "सम्मत्तं" शब्द का प्रयोग किया है। नियमसार में कहा गया है कि आप्त, आगम और तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।[9] मोक्षप्राभृत में कहा है हिंसा रहित धर्म मे, अठारहदोष रहित देव में तथा निर्ग्रन्थ प्रवचन में विश्वास करने से सम्यक्त्व होता है।[10] जीवादि तत्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्क्त्व है।[11] देव, शास्त्र और गुरु एव तत्वों का श्रद्धान करना, उनमें रुचि रखना, व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

जैन परम्परा मे आप्त को सर्वज्ञ तथा केवली भी कहा गया है। वह यथार्थ वक्ता होता है— "आप्तस्तु यथार्थवक्ता" इति। नियमसार में आप्त को परमात्मा कहा हैं। वह क्षुधा तृषा, भय, रोष, राग, मोह चिता, जरा, रुजा, मृत्यु, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग इन अठारह दोषों से रहित एवं केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य और केवलसुख रूप वैभव से युक्त होता है।[12] आत्मा के गुणों का घात करने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का क्षय होने से जीव के समस्त विभाव नष्ट हो जाते हैं तथा केवलज्ञानादि स्वभाव गुण प्रकट हो जाते हैं और जीव सर्वज्ञत्व/आप्तत्व को प्राप्त कर लेता है।

आगम आप्त के उपदेशों का संकलन हैं। उसमें तत्वों/का कथन होता है। आगम को श्रुत तथा शास्त्र भी कहते हैं। नियमसार में आप्त के मुख से निकले हुए पूर्वापर विरोध रहित शुद्ध वचनों को आगम कहा गया है।[13]

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में द्रव्यों को तत्वार्थ कहा है–

"जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता"।। गाथा 9

अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल से छह विविध गुण-पर्यायो से संयुक्त "तत्वार्थ" कहे गये हैं। इनमें से काल को छोडकर शेष पॉचों अस्तिकाय हैं, क्योंकि इनमें कायत्व पाया जाता है। कालद्रव्य के प्रदेशों मे कायत्व नही होता, इसलिए उसे अस्तिकाय नहीं माना गया।[14] काल एक प्रदेशी है, इसके प्रदेश राशि में रत्नों की भाँति पृथक्-पृथक् रहते है। काल द्रव्य जीवादि द्रव्यो के परिवर्तन का कारण है।

तत्व सात हैं– जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमें पुण्य और पाप जोड देने पर नौ पदार्थ बनते है। आस्रव और बन्ध तत्व में पुण्य एवं पाप का अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए सामान्य रूप से सात तत्व कहे जाते हैं। दर्शन प्राभृत मे कहा है कि छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पॉच अस्तिकाय और सात तत्वों के रूप का श्रद्धान करने वाला "सम्यग्दृष्टि" है।[15] अर्थात् उक्त तत्वो का श्रद्धान करना, व्यवहार सम्यग्दर्शन है। वह श्रद्धान अचल, अमलिन, गाढा और विपरीत अभिनिवेश रहित होना आवश्यक है।[16]

निश्चय नय के अनुसार जीव सम्यग्दर्शन आदि गुणो से युक्त होता है। इसलिए अपनी आत्मा का श्रद्धान, आत्मा का आत्मा में विश्वास करना, निश्चय सम्यग्दर्शन है। दर्शनप्राभृत में कहा है– **"णिच्छयदो अप्पाणं (सद्दहणं) हवइ सम्मत्तं।"** (गाथा-20) अर्थात् निश्चय से आत्मा का श्रद्धान करना, सम्यक्त्व है।

सम्यग्ज्ञान : "जो जाणइ सो णाणं" (चारित्रप्राभृत-4) अर्थात् जो जानता है, वही ज्ञान है। उसके पांच भेद है– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पयर्यज्ञान और केवल ज्ञान। इनमें मति और श्रुत परोक्ष ज्ञान हैं। अवधि और मन पर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान सम्यक् और मिथ्या दोनों होते हैं। पॉचों सम्यग्ज्ञान और तीनों मिथ्याज्ञान मिलकर ज्ञानोपयोग के आठ भेद कहे गये है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्ज्ञान के लिए "सण्णाण" शब्द प्रयुक्त किया है। उन्होंने संशय, विमोह और विभ्रम रहित तथा हेय और उपादेय तत्वों के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान बताया है।[17] नियमसार में कहा गया है कि जीव के स्वभावस्थान,मानापमानभाव स्थान, हर्षभाव स्थान, अहर्षभाव स्थान, स्थिति बन्धस्थान, प्रकृतिबन्ध स्थान, प्रदेशबन्धस्थान, अनुभागबन्ध स्थान, उदय स्थान, क्षायिकभाव स्थान, क्षयोपशमस्वभाव स्थान, औदायिक भावस्थान, उपशमस्वभाव स्थान, चतुर्गति भ्रमण, जन्म, जरा, मरण रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणा स्थान, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष,

नपुंसकादि पर्यायें, संस्थान और संहनन नहीं हैं। व्यवहार नय की दृष्टि से उक्त सभी भाव जीव के माने गये हैं, किन्तु यथार्थ में ये सब परद्रव्य हैं, इसलिए हेय/त्याज्य कहे गये हैं।[18]

निश्चयनय से जीव/आत्मा निर्दण्ड, निर्द्वन्द्व, निर्मम निष्कल, निरालम्ब, नीराग, निर्मूढ, निर्दोष, निर्भय, निर्ग्रन्थ, नि:शल्य, समस्त दोष रहित, निष्काम, निष्क्रोध, निर्मान, निर्मद, रूप-रस-गन्ध रहित, अव्यक्त, चेतना गुण वाला, अशब्द किसी लिंग द्वारा अग्राह्य और किसी भी आकार द्वारा अनिर्दिश्य होता है। ऐसे शुद्ध जीव या आत्मतत्व को उपादेय कहा गया है।[19] उपर्युक्त हेय और उपादेय को संशय, विमोह, विभ्रमरहित जानना, सम्यग्ज्ञान है।

नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान के दो भेद किये है— स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान।[20] स्वभाव ज्ञान, केवल, इन्द्रियों की सहायता से रहित तथा असहाय होता है। वह तीनों लोको की, तीनों कालो की, समस्त द्रव्यो और उनकी समस्त पर्यायों को युगपत् जानता है, इसीलिए उसे अतीन्द्रिय, क्षायिक, प्रत्यक्ष या केवलज्ञान कहा गया है। इस ज्ञान का धारक जीव अर्हत्, सर्वज्ञ और केवली होता है। विभाव ज्ञान, सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के भेद से दो प्रकार का है। मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान को सज्ञान या सम्यग्ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ज्ञान को मिथ्याज्ञान या अज्ञान कहा है।

निश्चयनय से आत्मा का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, अत: यथार्थ ज्ञान केवल ज्ञान है। नियमसार मे कहा है कि— **"णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेदि अप्पगं अप्पा"।** (गाथा-170) अर्थात् ज्ञान जीव का स्वरूप है, इसलिए आत्मा अपनी आत्मा को जानता है। और भी कहा है- **"केवल णाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पांण"।** (गाथा-159) अर्थात् नियम से निश्चय से केवलज्ञानी अपनी आत्मा को जानता है और देखता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार मे केवलज्ञान का विस्तार से विवेचन किया है।

सम्यक्चारित्र : नियमसार मे सम्यक्चारित्र के लिए "चरण" और "चारित्रं" शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमे व्यवहार और निश्चय नय के अनुसार सम्यक्चारित्र का विवेचन है। व्यवहारचारित्र मे पॉच महाव्रत, पॉच समिति, तीन गुप्ति और पॉच परमेष्ठियों का स्वरूप वर्णित है।[21] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत हैं। इनका निर्दोष पालन करने के निमित्त ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठा— ये पॉच समितियां तथा मन, वचन और काय, ये तीन गुप्तियॉ कही गयी हैं। उपर्युक्त क्रियाओं का पालन करते हुए अरिहंत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियों का ध्यान करने से व्यवहारनय का चारित्र होता है।

निश्चयचारित्र के सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि मैं नरक, तिर्यंच,

मनुष्य और देव पर्याय, मार्गणास्थान, गुणस्थान तथा जीवस्थान, बाल, वृद्ध, तरुण, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं हूँ, उनका कारण भी नहीं हूँ। उनका कर्ता, कारयिता तथा अनुमोदन कर्ता भी नहीं हूँ जो ऐसा भेदाभ्यास करता है, उसके चारित्र होता है। उस चारित्र को प्रशस्त करने के लिए प्रतिक्रमण, आदि कहे गये हैं।[22] नियमसार में प्रतिक्रमण, प्रत्यख्यान, आलोचना, प्रायश्चित, समाधि और भक्ति का स्वरूप प्रतिपादित है। उपर्युक्त सबका कथन निश्चयनय की दृष्टि से किया गया है।

जो अन्य के वश में नहीं होता है, वह अवश कहलाता है। उस अवश का कर्म आवश्यक कहा गया है। शुभाशुभ भावों में तथा द्रव्य-गुण-पर्यायो में जो चित्त को लगाता है, वह अन्यवश कहलाता है। और जो अन्यवश है, उसके आवश्यक कर्म नही होता। जो परभावों को छोडकर निर्मल आत्मस्वभाव का ध्यान करता है, वह आत्मवश कहलाता है तथा उसी आत्मवशी के आवश्यक कर्म होता है। आवश्यक कर्म से जीव का श्रामण्य गुण परिपूर्ण होता है।[23]

जो समस्त वचन को छोडता है, रागादि भावों का निवारण करता है, विराधना छोड़कर आराधना में लगता है, अनाचार को छोडकर आचार में स्थिर होता है, उन्मार्ग से हटकर जिनमार्ग में स्थिर होता है, शल्यभाव से मुक्त होकर नि-शल्य भाव ग्रहण करता है, अगुप्तिभाव को छोड़कर त्रिगुप्तिगुप्त होता है तथा आर्त्त-रौद्र ध्यान से चित्त को हटाकर धर्म-शुक्लध्यान मे लगाताहै, वह प्रतिक्रमणमय होने से प्रतिक्रमण स्वरूप है, प्रतिक्रमण है।[24]

समस्त वचन विस्तार का त्याग करना, भविष्य के शुभ-अशुभ भावों का निवारण करके आत्मा का ध्यान करना तथा कषाय रहित, दान्त, शूर, व्यवसायी, संसार के भय से भयभीत होना और जीव एवं कर्म के भेद का अभ्यास करना, प्रत्याख्यान कहलाता है।[25] कर्म और नोकर्म रहित तथा विभाव गुण और पर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करना, आलोचना है।[26] व्रत, समिति, शील, संयमरूप परिणाम, इन्द्रिय निग्रह का भाव, क्रोधादि कषायों के निग्रह का भाव तथा आत्मा के गुणों का चिन्तन करना, प्रायश्चित है। श्रेष्ठ तपश्चरण भी प्रायश्चित कहा गया है।[27] वचनोच्चारण की क्रिया को छोडकर वीतराग भाव आत्मा का ध्यान करना तथा संयम नियम, तप, धर्म और शुक्लध्यान के द्वारा आत्मा का चिन्तन करना और समस्त त्रस एवं स्थावर जीवों के प्रति समता भाव रखना, समाधि है सामायिक है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे जो भक्ति करता है,उसके निर्वृत्ति भक्ति होती है, उस भक्ति से जीव असहाय गुण वाले निजात्मा को प्राप्त करता है। जो रागादि के परिहार में, सभी विकल्पों के अभाव में तथा तत्वों के चिन्तन में अपनी आत्मा को लगाता है, वह योगभक्ति से युक्त कहा गया है। इस प्रकार योगभक्ति करके ऋषभादि जिनेन्द्रों

ने निर्वाण सुख को प्राप्त किया है। इसलिए उत्तम योगभक्ति को धारण करना चाहिए।[29]

उपर्युक्त नियम किसके होता है, इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

"सुह असुहवयणरयणं रायादीभावबारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा।।" नियमसार-120

अर्थात् जो शुभाशुभ वचन रचना और रागादि भावों का निवारण करके अपनी आत्मा का ध्यान करता है उसके नियम से नियम होता है। इस नियम के द्वारा निर्वाण प्राप्त होता है। वह निर्वाण कैसा है— जहाँ दुख, सुख, पीडा, बाधा, जन्म, मरण, इन्द्रियजन्य उपसर्ग, मोह, विस्मय, निद्रा, तृष्णा, क्षुधा, कर्म, नोकर्म, चिंता, आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान नहीं होते हैं। वहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलवीर्य, अमूर्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व आदि स्वभाव गुण होते हैं।[30]

उपर्युक्त विवेचन से नियमसार के सन्दर्भ में निम्न तथ्य उभर कर सामने आते हैं—

1 आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार को "श्रुत" की संज्ञा दी है।
2 उन्होंने मोक्षमार्ग-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को नियम शब्द से अभिहित किया है। इस सन्दर्भ में नियम शब्द का प्रयोग यहॉ प्रथम एवं सर्वप्राचीन है।
3 मोक्षमार्ग का निश्चय और व्यवहार नय की दृष्टि से इतना स्पष्ट तथा विस्तृत विवेचन कुन्दकुन्द ने प्रथमबार किया है।
4 नियमसार में द्रव्यों को तत्वार्थ कहा गया है।
5 यहॉ ज्ञान का स्वभाव एवं विभाव के रूप में विभाजन करके विवेचन किया गया है।
6 आवश्यकों के नामों और क्रम में यहॉ अन्तर पाया जाता है।।
7. निर्वाण का इतना स्पष्ट विवेचन अन्य प्राकृत ग्रन्थों में नहीं हुआ है।

इनके अतिरिक्त नियमसार में और भी कई बातें विचारणीय हैं, जिन पर यथावसर विचार किया जायेगा।

—शोध सस्थान, वैशाली।

सन्दर्भ :

1. णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं। नियमसार-187
2. नियमसार गाथा-187 की तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका।
3. नियमसार ता. वृ. श्लोक-5, 6 एवं गाथा संख्या-1 की टीका।
4. नियमसार, गाथा-3

5. वही,
6. वही, गाथा-4
7. नियमसार-120
8. समयसार, गाथा-16 से 18 तक
9. अत्तागमतच्चाण सद्दहणादो हवेइ सम्मत्त। नियमसार-5
10. हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
    निग्गंथे पावयणे सद्दहण हवेइ सम्मत्त।। मोक्षप्राभृत-90
11. दर्शनप्राभृत-20
12. नियमसार, गाथा-6, 7
13. वही, गाथा-8
14 वही, गाथा-34 एव 36
15. दर्शन प्राभृत-19
16. नियमसार, गाथा-51, 52
17. ससय विमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाण। नियमसार-51
18 नियमसार, गाथा-39, 42, 45, 49, 50
19. वही, गाथा, 43, 44, 46, 50
20. वही, गाथा 10, 11, 12
21 वही, गाथा 56 से 75
22. वही, गाथा 77 से 82
23. वही, गाथा 141 से 147
24. वही, गाथा 83 से 89
25 वही, गाथा 95 एवं 105, 106
26. वही, गाथा 107
27. वही, गाथा 113, 114 एव 117
28. वही, गाथा 122, 123 एव 126, 133
29 वही, गाथा 134 से 140
30 वही, गाथा 179 से 182

परवार जैन समाज का इतिहास : कुछ शोधकण

—डॉ. कस्तूरचन्द्र 'सुमन'

जैन साहित्य के इतिहास भिन्न-भिन्न लेखकों के जैसे प्रकाशित हुए है वैसे जैन उपजातियों के इतिहास न समग्र रूप से प्रकाशित हुए और न पृथक-पृथक रूप से। जैन उपजातियों का प्रामाणिक इतिहास लिखे जाने की अब आवश्यकता अनुभव होने लगी है। पर्यूषण में मुझे इटावा जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। वहाँ लंमेचू जाति का इतिहास पढने को मिला, अति प्रसन्नता हुई।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे उसके परिवर्द्धन की संभावनाएँ हैं। प्रामाणिकता की दृष्टि से सर्वप्रथम पुस्तक पढने में आयी है— डॉ कस्तूरचन्द्र "कासलीवाल" द्वारा लिखित एवं सम्पादित "खण्डेलवाल जैन समाज का वृहद् इतिहास-प्रथम खण्ड-इतिहास खण्ड। यह पुस्तक पट्टावलियो, अभिलेखों और पाण्डुलिपियों के साक्ष्य में लिखी गयी है। लेखक की स्वयं की अभिरुचि, ऐतिहासिक दृष्टि और शोध-खोज की लगन सराहनीय है।

दूसरी पुस्तक हमारे समक्ष है "परवार जैन समाज का इतिहास"। इसके लेखक हैं स्वर्गीय यशस्वी विद्वान् सिद्धान्ताचार्य प फूलचन्द्र शास्त्री और विशिष्ट सहयोगी एवं कार्यकर्त्ता विद्वान् है— डॉ देवेन्द्रकुमार शास्त्री तथा डॉ कमलेश कुमार जैन। इस ग्रन्थ की 564 पृष्ठीय सामग्री दो भागों मे विभाजित की गयी है।

1 इतिहास विभाग 2 वर्तमान परवार जैन समाज का परिचय।

इनमें प्रथम विभाग प्रथम तीन खण्डों (पृष्ठ 1 से 198 तक) मे समाप्त हुआ है और दूसरा विभाग चतुर्थ से सप्तम खण्ड (पृष्ठ 199-564) में।

प्रकाशकीय पृष्ठ चार से विदित होता है कि इतिहास खण्ड के व्यवस्थापन का कार्यभार डॉ देवेन्द्र कुमार शास्त्री को और ग्रन्थ मुद्रण के साथ चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ खण्ड की सामग्री के संकलन एवं व्यवस्थान का गुरुतर दायित्व डॉ कमलेश कुमार जैन को सौंपा गया था। दोनों मनीषियों ने निष्ठा पूर्वक कार्य किया है। उभय विद्वान सामाजिक सम्मान के पात्र हैं।

डॉ कमलेश कुमार जैन से वाराणसी प्रवास में इस पुस्तक के पृष्ठ 120 में उल्लिखित पार्श्वनाथ प्रतिमा के सन्दर्भ में विचार विमर्श हुआ था। डॉ. जैन ने मुझे भेलूपुर स्थित मन्दिर में ले जाकर उक्त प्रतिमा के दर्शन कराये थे तथा पुस्तक में प्रकाशित लेख भी प्रतिमा की आसन में उत्कीर्ण दिखाया था। इससे प्रमाणित होता है कि डॉ जैन ने स्वर्गीय पं. फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री के सामीप्य में

उनसे पुस्तक के विभिन्न अंगों पर गहराई से उहापोह किया है।

षष्ठ खण्ड (सरस्वती साधक) में सरस्वती के उन उपासकों का परिचय दिया गयाहै। जिन्होंने परवार जैन समाज को गौरवान्वित किया है। इस खण्ड में ऐसे मनीषियों के नाम भी प्रकाशित हो गये हैं जो परवार जैन नहीं हैं। उदाहरणार्थ पृष्ठ 285 में देखें श्री श्रीयांसकुमार सिंघई का परिचय। इसी प्रकार पृष्ठ संख्या 504 में दृष्टव्य है– सिहोरा निवासी श्री धन्यकुमार जी का परिचय।

डॉ. जैन के आत्मीय सहयोग की हम हृदय से सराहना करते हैं। वे साधुवाद के पात्र हैं। परवार जैन समाज की विभूतियों का परिचय लिखकर डॉ जैन ने एक महत्वपूर्ण कार्य किया है।

आइए एक दृष्टि इतिहास खण्ड पर भी डालें। पुस्तक के द्वितीय खण्ड में अभिलेखादि दिये गये हैं। सर्वाधिक प्रतिमा की आसनपर साढोरा ग्राम के जैनमन्दिर की एक वेदी पर विराजमान प्रतिमा की आसन पर अकित मिला है सवत् 610 का (दे पृ 114) यह ग्राम दिल्ली से गुजरात और महाराष्ट्र आदि प्रदेशो को जाने वाले मार्ग पर गुना जिले में स्थित बताया गया है। दे पृ 28, 42। इस लेख में मूलसंघ मे पौरपाट अन्वय के पाटनपुर निवासी सघई (सिघई) का उल्लेख हुआ है। लेख निम्न प्रकार है–

संवत् 610 वर्षे माघ सुदी।। मूलसंघे पौरपाटान्वये

पाटलनपुर संघई। इसमे मूलसघ, पौरपाटान्वय और संघई पद प्राचीनता की दृष्टि से विचारणीय है।

पाटनपुर से लायी गयी कुछ प्रतिमाए सागर के बडे बाजार स्थित चौधरनबाई दिगम्बर जैन मन्दिर में विराजमान हैं। संभवत· यह प्रतिमा भी पाटन से ही यहॉ किसी प्रकार आयी हो। इसके दो कारण ज्ञात होते हैं– प्रथमपौरपाट अन्वय और दूसरा है संघई पद का होना। इस पुस्तक के लेखक की दृष्टि में यह प्रतिमा पार्श्वनाथ तीर्थंकर की है। पृ 114 में इस प्रतिमा का परिचय पार्श्वनाथ प्रतिमा के नाम से दिया गया है। पृ 506 पर दिए गए इस प्रतिमा चित्र को भी भगवान पार्श्वनाथ का बताया गया है। प्रतिमा के शीर्ष भाग पर पंचफणावलि उत्कीर्ण है। संभवत· इसी फणावली को देखकर लेखक ने इसे पार्श्वनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा समझा है। प्रतिमा की आसन पर तीन पंक्ति का लेख है और लेख के मध्य में लांछन स्वरूप स्वास्तिक का स्पष्ट अकन है जिससे यह प्रतिमा सातवे तीर्थकर सुपार्श्वनाथ की प्रमाणित होती है। फणावली पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ दोनों तीर्थंकरों के शीर्ष भाग पर होती है। अन्तर स्वरूप सुपार्श्वनाथ के सिर पर पंच फणावली और पार्श्वनाथ के सिर पर सात, नौ, ग्यारह फण दर्शाये जाते है। साढौरा की यह प्रतिमा तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की है। एक ऐसी ही पच फणावली से युक्त प्रतिमा भारत कला भवन हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में भी प्रदर्शित है। प्रतिमा के शीर्ष भाग पर दुन्दुभिवादक और पीछे भामण्डल है। गुच्छक केश सहित पाल शैली में अंकित यह प्रतिमा राजघाट से प्राप्त बताई गयी है और समय 11 वीं शती दर्शाया गया है।

(2) द्वितीय खण्ड में कुछ ऐतिहासिक अभिलेखों का उल्लेख किया गया है। जिनकी वर्तमान स्थिति नहीं दर्शाई गयी है। सामान्य पाठक यदि अभिलेखों को देखना/समझना चाहे तो उसे प्रतिमा को खोजने में ही बहुत समय लगा देना पडेगा। उदाहरणार्थ पृष्ठ 120 में वाराणसी, कुण्डलगिरी आदि के लेख इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। सोनागिरी का संवत् 1101 की प्रतिमा भी निर्दिष्ट स्थान पर उपलब्ध नहीं है। चित्र दिया गया होता तो शोधी खोजी विद्वान् को कठिनाई नहीं होती।

(3) उज्जैन पट्टावली में 1 से 89 तक के उल्लिखित भट्टारकों में संवत् 26 में हुए गुप्त गुप्ति (गुप्तिगुप्त) का ही एक नाम है जिनकी जाति परवार बताई गयी है। सम सामयिक अन्य जैन उप जातियों के उल्लेखों का अभाव सन्देह उत्पन्न करता है।

(4) कोच्छल्ल गोत्र– श्री स्व पं नाथूराम जी प्रेमी के लेख में (इसी पुस्तक के पृष्ठ 175) में इस गोत्र का जिन जैन उपजातियों में अस्तित्व बताया गया है उनमें दो जैन जातियाँ हैं-- परवार और गहोई। श्री प्रेमी जी की मान्यतानुसार सस्कृत लेखों में गहोई वंश को गृहपति वंश लिखा गया है। परवार के बारह गोत्रों मे नौ गोत्र गृहपत्यन्वय जाति से मिलते हैं। अहार क्षेत्र के संग्रहालय में गृहपत्यन्वय जाति के चौदह प्रतिमा लेख हैं। इन प्रतिमा लेखों में दो प्रतिमा लेख ऐसे भी हैं जिनमें कोच्छल्ल नामक गोत्र का उल्लेख हुआ है। ये लेख हैं– वि.सं. 1207 और वि.सं. 1213 के। इनमें संवत् 1207 के लेख में माघ वदी अष्टमी तिथि में वाणपुर में गृहपत्यन्वय के कोछिल गोत्र के हरिषेण द्वारा नित्य वन्दनार्थ प्रतिमा प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख है। इसी प्रकार दूसरे सं. 1213 के एक लेख में भी वाणपुर निवासी गृहत्पयन्वय के कोछिल गोत्र के हरिषेण आदि श्रावकों के द्वारा प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख है।

प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला ने साहु मातन का नाम अहार के संवत् 1207 के महावीर प्रतिमा लेख में पौरवाटान्वय के पूर्व पढ़कर निष्कर्ष स्वरूप ग्रहपत्यन्वय और पौरपाटान्वय को एक माना है। (दे पृ. 118)।

अपने अभिमत के सन्दर्भ में आदरणीय पं "गोरावाला" ने अहार के जिन चार प्रतिमालेखो का उल्लेख किया है वे निम्नप्रकार हैं–

(1)

"संवत् 1207 माघ वदि 8 वाणपुरे गृहपत्यन्वये कोछल्लगोत्रे साहु महावली रेमले पुत्र हरिषेणं झिणें-तत्सुकारापितेय नित्यं प्रणमन्ति"।

(2)

"संवत् 1213 आषाढ सुदी 2 सोमदिने गृहपत्यन्वये कोछल्ल गोत्रे वाणपुर वास्तव्य तद सुत माहवा पुत्र हरिषेण उदई जलखूँ विअंदु प्रणमन्ति नित्य।

हरिषेण पुत्र हाडदेव पुत्र महीपाल गंग बसबचन्द्र लाहदेव माहिशचन्द्र सहदेव एते प्रणमन्ति नित्यं।

(3)

"संवत् 1203 आषाढ वदी 3 शुक्रे श्रीवर्द्धमानस्वामि प्रतिष्ठापिकः गृहपत्यन्वये साहु श्री उल्कणद्य अल्हण साहु मातेण वैश्यवालान्वये साहु वासलस्तस्य दुहिता मातिणी साहु श्री महीपती"।

(4)

"संवत् 1207 आषाढ वदी 9 शुक्रे श्रीवीरवर्द्धमानस्वामि प्रतिष्ठापितो गृहपत्यन्वये साहु श्री राल्हर्णश्चतुर्विधदानेन.. ...... पठलित विमुक्त सुख शीतल उलकं प्रवर्द्धित कीर्त्तिलतावगुण्ठित ब्रह्माण्डं. . तत्सुत श्री आल्हसतथा तत्सुत साहु मातनेन पौरवालान्वये साहु वासलस्तस्य दुहिता मातिणी साहु श्री महीपति तत्सुत साहु... ...तत्सुत सीदू एते नित्यं प्रणमन्ति। मंगलं महाश्री।"

(देखे प्रस्तुत पुस्तक का पृ. 116-117)

वैभवशाली अहार पुस्तक में प्रकाशित प्रो. गौरावाला के लेख के अनुसार इन लेखों में संवत् 1203 क्रमांक तीसरे में गृहपति वंश और उसके साथ वैश्यवाल वंश के साहु वासल तथा उनकी पुत्री मातिणी का उल्लेख और संवत् 1207 क्रमांक चतुर्थ लेख मे गृहपतिवंश के उल्लेख के साथ साहु मातन को पोरवाल अन्वय का लिखा जाना तथा साहुवासल और उनकी पुत्री मातिणी के नामोल्लेखों में नाम साम्य के कारण ऐक्य स्थापित होता है। प्रो गोरावाला का अनुमान है कि गृहपतिवंश उस वर्तमान जाति (वंश) का नाम था, जिसमें कोच्छल्ल गोत्र आज भी है।

प्रो. गोरावाला ने जिन लेखो के परिप्रेक्ष्य में यह अभिमत प्रकट किया है वे पूर्वोल्लिखित प्रतिमालेख पं. गोविन्ददास "कोठिया" द्वारा संग्रहित और श्रीमान् सेठ हीरालाल, दीपचन्द, अनंदीलाल जैन हटा (टीकमगढ) म प्र द्वारा प्रकाशित प्राचीन शिलालेख श्री 108 दि. जैन अतिशय क्षेत्र अहारजी टीकमगढ़ से लिये गये प्रतीत होते हैं। इस पुस्तक में ये लेख क्रमशः क्रमांक 87, 89, 51 और 102 से प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों में पूर्ण विराम की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

प्रो गोरावाला ने अपना अभिमत चतुर्थ प्रतिमालेख को लेकर स्थापित किया है। प्रस्तुत लेख में प्रणमन्ति और महाश्री के बाद पूर्ण विराम दर्शाये गये हैं जबकि स्थिति इससे भिन्न है।

इस लेख के मूलपाठ के पॉच स्थलों पर खड़ी रेखाओं द्वारा पूर्ण विराम चिन्ह दिये गये हैं जो एक तथ्य के पूर्ण होने का संकेत करते हैं। प्रथम पूर्ण विराम चतुर्विधदाने के पश्चात् है। इसके बाद मातनेन के पश्चात् इस लेख के मूलपाठ में पूर्ण विराम सूचक दो खडी रेखाएँ हैं। तीसरा पूर्ण विराम मातिर्णि के बाद में है। चतुर्थ पूर्ण विराम प्रणमंति के पश्चात् और पाँचवां इति के बाद। मातन गृहपत्यन्वयी है। प्राचीन शिलालेख अहार ले.सं. 66 और लेख सं 9 में भी स्पष्ट रूप से मातन को गृहत्यन्वय का होना कहा गया है। मातिणी पौरपाटान्वय के साहु वासल को दुहिता थी। गृहपत्यन्वय और पौरपाटान्वय दोनों अन्चयों के श्रावकों ने मिलकर इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी। प्रो. गोरावाला को यह सन्देह संभवतः

पूर्ण विराम यथास्थान न होने के कारण उत्पन्न हुआ है। दोनों अन्वय भिन्न हैं। यहाँ कोच्छल्ल गोत्र ग्रहपत्यन्वय से संबंधित है, पौरपाटान्वय से नहीं।

(5) आवरण परिचय : यह परिचय भ्रामक है। वस्तु स्थिति मैंने इसके पूर्ण स्पष्ट कर दी है। कोछल्ल गौत्र वर्तमान परवार जैन समाज के बारह गोत्रों में एक है, यह सत्य है, किन्तु यह भी सत्य है कि यह गृहपत्यन्वय का भी गोत्र है। गोत्र के नाम साम्य से "गृहपतिवंश का सबंध परवार समाज से हैं" कहना तर्क संगत नहीं है। दोनों अन्वय भिन्न हैं। खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर के लेख का भी परवार जैन समाज से कोई संबंध स्थापित नहीं होता है।

(6) प्रस्तुत पुस्तक के पैंतीसवें पृष्ठ से ज्ञात होता है कि लेखक को 17वीं शताब्दी के पूर्व का एक भी ऐसा लेख नहीं मिला है जिसमें परवार जाति नाम का उल्लेख हो।

शोध खोज के प्रसंग में मुझे ऐसे प्रतिमालेख प्राप्त हुए हैं जिनमें न केवल परवार जाति का उल्लेख है बल्कि 17 वीं शताब्दी से पूर्व का समय भी उनमें अंकित है। अहार के विक्रम सवत् 1202 के एक आदिनाथ प्रतिमालेख में "परवर अन्वय" का स्पष्ट उल्लेख है। कुडीला ग्राम के वि स 1196 के आदिनाथ प्रतिमालेख में "परवाडान्वय" अंकित मिला है। अहार में विराजमान एक अन्य आदिनाथ प्रतिमालेख में 'परवाडान्ववे' पढ़ने में आता है। श्री बालचन्द्र जैन भूतपूर्व उपसंचालक पुरातत्त्व व संग्रहालय रत्नपुर से भी मुझे एक प्रतिमालेख मऊ (छतरपुर) का ऐसा प्राप्त हुआ था जिमसें लेख का आरम्भ "सिद्धं परवाडकुले जात· साधु श्री   से हुआ है। विक्रम संवत् 1199 का एक आदिनाथ प्रतिमालेख ऐसा भी प्राप्त हुआ है जिसमें "पुरवाडान्वय" का नामोल्लेख हुआ है। इन अभिलेखों में आये परवर, परवाड और पुरवाड शब्द समानार्थी हैं। तीनों वर्तमान परवार जैन जाति के बोधक हैं। अतः इन अभिलेखो के साक्ष्य में कहा जा सकता है कि बारहवीं शताब्दी में अन्य जैन जातियों के समान 'परवार' जैन जाति भी छतरपुर और टीकमगढ जिलों में विद्यमान थी।

मैं पुस्तक के लेखक मूर्धन्य मनीषी सिद्धान्ताचार्य स्वर्गीय पं फूलचन्द्र जी का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने परवार जैन समाज का इतिहास जानने समझने का अवसर दिया। ऐसी अब तक कोई पुस्तक नहीं थी। पुस्तक के प्रेरणास्रोत आदरणीय पं जगनमोहनलाल जी का भी उपकार मानता हूँ जिन्होंने इसके प्रकाशन में बहुमूल्य समय देकर महत्वपूर्ण योगदान किए है। डॉ देवेन्द्र कुमार शास्त्री और डॉ. कमलेशकुमार जैन भी सम्मान के पात्र हैं।

समस्त पुस्तकालयों और जैन मन्दिरों में अध्ययनार्थ यह पुस्तक उपलब्ध हो— इस ओर आशा है श्रीमन्त और धीमन्त ध्यान देंगे। समाज इस पुस्तक के लेखक, प्रेरक ओर विशिष्ट सहयोगी विद्वानों का आभार मानती है। इतर जैन जातियों के इतिहास भी लिखे जावें तो बहुत अच्छा होगा।

जैन विद्या संस्थान, श्री माहवीर जी (राज.)

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

(ले. जस्टिस एम.एल. जैन)

जैन धर्म का सर्व सम्मत प्रतीक इस प्रकार है—

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'

इस प्रतीक चिनह में जैन मान्यता के अनुसार विराट् विश्व की रेखाकृति है जिसमें तीनों लोक, सिद्ध शिला, रत्नत्रय, स्वास्तिक पंच महाव्रत और अहिंसा दिखाए गए हैं। साथ में 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' यह जो Legend (आदर्श वचन) नीचे दिया गया है, वह उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के पांचवे अध्याय का सूत्र संख्या 21 है।

इस सूत्र का अर्थ क्या है यह समझने के लिए कुछ अन्य संबन्धित सूत्रों को ध्यान में रखना होगा। वे हैं—

1. सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य 1/29
2. गुणपर्ययवद् द्रव्यम् 5/38
3. सत् द्रव्य लक्षणम् 5/29
4 उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत् 5/30
5 अजीव काया धर्माधर्मा काश पुद्गला: 5/1
6 द्रव्याणि 5/2
7. जीवाश्च 5/3
8. कालश्च 5/39
9. गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार· 5/17
10. आकाशस्य अवगाहः 5/18
11. शरीरवाड्मनः प्राणापाना पुद्गलानाम् 5/19
12. सुख दुख जीवितमरणोपग्रहाश्च 5/20
13. परस्परोपग्रहो जीवानाम् 5/21

केवलज्ञान होने पर ही पूर्ण मुक्ति होती है और केवल ज्ञान उस अवस्था का नाम है जब ज्ञान की प्रवृत्ति समस्त द्रव्यों व पर्यायों में हो जाए। जिसमें गुण (अन्वयी)

और पर्याय (व्यतिरेक) हैं वह द्रव्य है अर्थात् जो यथायोग्य अपनी अपनी पर्यायों द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। या यों कहिए कि जो उत्पाद् (उत्पत्ति), व्यय (विनाश) और ध्रौव्य (स्थैर्य) इन तीनों से युक्त अर्थात् इन तीनों रूप हैं वह सत् हैं और वही द्रव्य हैं। ये द्रव्य छह हैं–
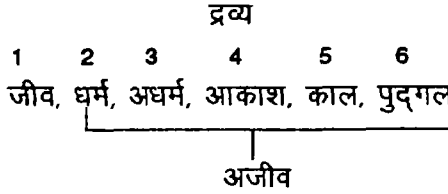
जीव[1] और अजीव[2] तथा कर्मों के आस्रव[3], बंध[4], संवर[5], निर्जरा[6] और मोक्ष[7] ये सात तत्व है। इन सात तत्वों की जानकारी नैसर्गिक अथवा अर्जित होती है। और एक बार यथार्थ समझकर फिर उसमें विश्वास दृढ़ हो जाए तो दर्शन विशुद्धि या सम्यक् दर्शन हो जाता है और यही प्रथम सोपान है मोक्ष का। इन सात तत्वों के साथ पाप[8] और पुण्य[9] जोड़लें तो यही नव पदार्थ कहलाते हैं। वास्तव में मूल पदार्थ तो दो ही है, जीव और अजीव। इनके अतिरिक्त जो सात तत्त्व पदार्थ हैं वे जीव और पुद्गलों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। जीव के शुभ परिणाम हों, तो शुभ कर्मरूप शक्ति को पुण्य और अशुभ परिणामों के निमित्त से अशुभ कर्मरूप परिणति शक्ति को पाप कहते हैं।

इस तरह पर जीव और अजीव को तत्त्व, द्रव्य और पदार्थ तीनों ही माना गया है। इनमें से धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव से पंचास्तिकाय कहलाते हैं।

जीव होते हैं मुक्त और संसारी जिनमें कुछ मन सहित और कुछ मन रहित। एक इन्द्रिय जीव अर्थात् पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति हैं स्थावर जीव। दो इन्द्रिय से लेकर पांच इन्द्रिय वाले तमाम जीव त्रस कहलाते हैं जो वध, बंधन, अवरोध, जन्म, जरा, मरण आदि दुख भोगते हैं।

जब उपरोक्त षट् द्रव्यों का मय पर्यायों के युगपद् ज्ञान हो जाए तो समझो कि ज्ञान संपूर्ण हो गया और वही है केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता।

अब सवाल पैदा होता है कि आखिर ये द्रव्य करते क्या हैं, इनके कृत्य क्या हैं और किस तरह हैं एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य क्या हैं और किस तरह है एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के लिए उपयोग? क्या इनका आपस में भी कोई तालमेल या संबंध है? इस का विवेचन करते हुए उमास्वाति ने कहा कि–

धर्म का उपकार है गति उपग्रह
अधर्म का उपकार है स्थिति उपग्रह
आकाश का उपकार है– अवकाश उपग्रह
काल के उपकार हैं– वर्तना, परिणाम, क्रिया परत्व और अपरत्व
पुद्गलों के उपकार है– शरीर, मन, वचन, प्राणापान, सुख, दुख, जीवन और

मरण ये उपग्रह

जीवों के उपकार है— परस्पर उपग्रह तथा सुख, दुख, जीवन, मरण, उपग्रह

तत्त्वार्थ सूत्र में यह चर्चा चल रही है द्रव्यों की परिभाषा व शुद्ध स्वरूप की। इसलिए ज़ाहिर है कि 'उपकार' शब्द 'भला करना' इस अर्थ में प्रयुक्त न हुआ है, न हो ही सकता है। अतः उपकार शब्द का अर्थ है, किसी विवक्षत द्रव्य का कृत्य (Function)। यहां तक तो कोई कठिनाई नहीं आती। कठिनाई आती है उपग्रह का मतलब निकालने में।

जैसा ऊपर बताया गया है, उमास्वाति ने 'उपग्रह' शब्द सर्वप्रथम धर्म और अधर्म द्रव्यों के उपकार (कृत्य) के सिलसिले में प्रयुक्त किया है और यहीं से इसका मतलब समझना होगा।

कुन्दकुन्द ने पञ्चास्तिकायसंग्रहसूत्र की गाथा 22 में लिखा है—

जीवा पुग्गलकायाआयासं अत्थिकाइया सेसा
अमया अत्थित्तमया कारणभूदा हि लोगस्स।

(जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म, अधर्म ये पांच अस्तिकाय द्रव्य किसी के बनाए हुए नहीं है, अस्तित्व मय हैं और निश्चय ही लोक के कारणभूत हैं।) आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने इस 'समय' में न उपकार शब्द का ही प्रयोग किया है न ही उपग्रह का। उनने पञ्चास्तिकाय द्रव्यों को लोक का 'कारण' माना है। टीकाकारों का कहना है कि कारणभूत का अर्थ है लोक इन्हीं से बना हुआ है। धर्म, अधर्म के सिलसिले मे कुन्दकुन्द लिखते हैं—

उदयं जह मच्छाणं गमणानुग्गहयरं हवदि लोए
तह जीव पुग्गलाणं धम्म दव्वं वियाणेहि (85)

(धर्म द्रव्य उसे जानो जो संसार में जीव व पुद्गलों के गमन में अनुग्रहकर उसी तरह होता है जिस तरह जल मछलियो के लिए।) टीकाकारों ने लिखा कि धर्म द्रव्य कारण रूप है किन्तु कार्य नहीं हैं न ही है प्रेरक, वह उदासीन अवस्था से निमित्तमात्र गति का कारणभूत है, गति का निमित्तपाय सहायी है। मछलियां जो जल के बिना चलने मे असमर्थ है उनके चलने में जल निमित्त मात्र है। जीव पुद्गल के चलते धर्म द्रव्य आप नहीं चलता न उनको प्रेरणा करके चलाता है, आप तो उदासीन है परन्तु जीव पुद्गल गमन करे तो उनको निमित्त मात्र सहायक होता है मेरे विचार से इस टीका का सार यह है कि धर्म और अधर्म द्रव्य लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्त निष्क्रिय द्रव्य हैं और इनके बिना गति-स्थिति नहीं, यही इन द्रव्यों का अनुग्रह है। दरअसल जल की हलचल और मछली का गमन भी धर्म द्रव्य का ही अनुग्रह है।

हरिभद्र सूरि ने बताया कि धर्म द्रव्य गति उपकारी है, स्वयं गतिशील जीव पुद्गलों का उपकारक अर्थात् अपेक्षा कारण है याने निमित्त कारण है, धर्म द्रव्य में होने वाले स्वाभाविक परिणाम की अपेक्षा करके ही चलने वाले जीवादि द्रव्य अपनी गति को पुष्ट करते हैं, स्वयं चलने वाले जीवादि द्रव्यों की गति में धर्म द्रव्य की अपेक्षा होती है इसलिए धर्म द्रव्य जीवादि की गति मे अपेक्षा कारण कहा जाता है।

'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरूपकारः' का अनुवाद पं. महेन्द्रकुमार शास्त्री ने अकलंक के तत्वार्थ राजवार्तिक (1957) में यों किया है—

"गति स्थिति क्रमशः धर्म अधर्म के उपकार है।"

स्पष्ट है कि महेन्द्रकुमार ने उपग्रह शब्द को ही छोड दिया है, शायद इसलिए कि उपग्रह और उपकार पर्यायवाची बताए गए हैं।

सर्वार्थ सिद्धि के हिन्दी अनुवाद (1971) में पं. फूलचंद ने इस सूत्र का अनुवाद यों किया—

"गति स्थिति में निमित्त होना, यह क्रम से धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार हैं"

परन्तु यह 'निमित्त होना' समझने में तब कठिनाई आती है जब हम यह समझना चाहें कि "जीवों का उपग्रह परस्पर है, यही जीवों का उपकार है तथा सुख दुख जीवन मरण भी जीवों के जीवकृत उपकार हैं।"

तत्त्वार्थ के स्वोपज्ञ कहे जाने वाले भाष्य और सिद्धगणि की टीका में इसका तात्पर्य यों समझाया गया कि हित का उपदेश और अहित का निषेध यह जीवों का परस्पर उपकार है परन्तु किसका क्या हित है क्या अहित इसका कोई जवाब नहीं मिलता।

विद्यानंदि ने श्लोकवार्तिक में उपग्रह का अर्थ (कुंदकुद की भांति) अनुग्रह किया है।

J.L. Jaini ने इस सूत्र का अनुवाद (1918) में यों किया है—

The function of souls (mundane souls) is to suport each other.

S.A. Jaini का अनुवाद (1992) इस प्रकार है—

The function of souls is to help one another.

आचार्य महाप्रज्ञ ने इस सूत्र का अर्थ किया है, एक दूसरे का सहारा एकपदार्थ दूसरे पदार्थ का आलम्बन बनता है।

नथमल टॉटिया ने अनुवाद (1994) किया है

Souls render service to one another.

इस प्रकार उपग्रह के निम्न अर्थ पाए जाते हैं—

1. निमित्त, 2 सहायता, 3. आलम्बन, 4. अनुग्रह, 5 अपेक्षा, 6 support, 7. Help, 8. Service.

यह इस बात का सूचक है कि विभिन्न चिन्तकों ने उपग्रह का अर्थ विभिन्न प्रकार से किया है परन्तु फिर भी यह समझना कठिन है कि एक प्राणी दूसरे प्राणी का नियम से किस प्रकार निमित्त, आधार, आलम्बन, आश्रय, सहायक, अथवा सेवारत होता है। धर्म, अधर्म, आकाश ये संसार में व्याप्त एक एक ही द्रव्य हैं किन्तु जीव हैं अनन्त उनके परस्पर उपग्रह भी अनन्त हैं। इसलिए, अकेले उपग्रह शब्द में अंतर्निहित उस व्यापक कल्पना को समझना कठिन होता है जो सब द्रव्यों के कृत्यों पर एकसा लागू हो, वजह इसकी यह है कि सूत्रकार कम से कम शब्दों का प्रयोग करके गागर में सागर भरना चाहता है। अतः प्रत्येक द्रव्य के हिसाब से उपग्रह शब्द का अर्थ ग्रहण करना होगा।

अकलंक का कहना है कि "द्रव्यों को शक्ति का आविर्भाव करने में कारण

रूप अनुग्रह ही उपग्रह कहा जाता है। स्वामी–भृत्य, आचार्य-शिष्य इत्यादि भाव से जो व्यवहार कियाजाए वह परस्पर उपग्रह कहा जाता है। स्वामी वित्तत्यागादि द्वारा और भृत्य हित प्रतिपादन और अहित निषेध के द्वारा उपग्रह करते हैं। आचार्य उभयलोक फलप्रद उपदेश दर्शन के द्वारा और उपदेश विहित क्रिया के अनुष्ठापन द्वारा शिष्यों के प्रति और शिष्य तदनुकूल व्यवहार करके आचार्य के प्रति अनुग्रह करते हैं। जिस प्रकार स्त्री पुरुष रतिक्रियाओं में युगपद् रूप से परस्पर उपकार करते हैं इसी प्रकार का नियम सुखादि उपग्रहों के लिए नहीं है।"

अब तक टीकाकारों ने उपग्रह शब्द को बुद्धिगत करने के लिए जो उदाहरण दिए हैं वे सब केवल मनुष्यो को लेकर और वह भी इष्टकारक व्यापार के दिए हैं। इस कमी को दूर करने के लिए और विषय को और गहराई से समझने के लिए अकलंक आगे लिखते हैं– "कोई जीव अपने लिए सुख उत्पन्न करके कदाचिद् दूसरे एक को, दोनें को या बहुतों को सुखी कर सकता है और कोई जीव अपने लिए दुख उत्पन्न करके दूसरे एक, दो या बहुतों को दुखी कर सकता है कदाचिद् दो, या बहुतों को या अपने लिए सुख अथवा दुख उत्पन्न करके दूसरे एक दो या बहुतों को सुख या दुख उत्पन्न कर सकता है इसी प्रकार इतरत्र भी जानना"।

इस स्पष्टीकरण से ही उपग्रह शब्द में अन्तर्निहित अर्थ बिल्कुल सही तौरपर ग्रहण किया जा सकता है। अन्य द्रव्य यथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल जीव और अजीव दोनो के लिए कुछ न कुछ करते हैं, किसी न किसी रूप में उनके काम आते हैं। जीव द्रव्य अन्य द्रव्यो के लिए कुछ नहीं करते, वे आपस में ही एक अन्य के लिए कुछ न कुछ करते है, वह कृत्य हितकर भी होसकता है और अहितकर भी और इस कृत्य का नाम ही परस्पर उपग्रह हैं। जीवों के संदर्भ में उपग्रह की अवधारणा बिना 'परस्पर' लगाए मस्तिष्कगत नहीं होती। क्या हित और क्या अहित इसका निर्णय जीव अपनी अपनी धारणा या विचार या भाव शक्ति के अनुसार करते हैं।

इस विवेचन को यों समझने की कोशिश की जा सकती है। सिहादि अपने शावक के पालन (जीवन, सुख) के लिए मृगादि का वध (मरण, दुख) करके भोजन (सुख) जुटाते हैं, तो मृगादि तृणादि खा कर (दुख पहुंचा कर) अपना जीवन यापन (सुख) करते हैं। लौकिक, व्यावहारिक अर्थ में तृणादि मृगादि का और मृगादि सिंह शावकादि का हित (सुख) साधन (अनुग्रह) करते हैं और मृगादि तृणादि का और सिंहादि मृगादि का अहित (मरण, दुख) कारित करते है। किन्तु शुद्ध तात्त्विक दृष्टि से सिंह, शावक, मृग और तृण का यह परस्पर उपग्रह है। यह समझना भूल होगी कि एक जीव दूसरे जीव का केवल हित करते हैं किन्तु हित और अहित दोनों ही उपकार/उपग्रह/अनुग्रह की परिभाषा में सम्मिलित हैं।

इस प्रकार **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** यह सूत्र इस अनादि अनन्त जीव सृष्टि की वास्तविकता को उजागर करता है, एक शुद्ध तत्व दर्शन को अभिव्यक्त करता है; इसमें जीवन का कोई आदर्श न व्यक्त है न निहित। आदर्श तो सम्यक् चारित्र अर्थात् अहिंसा है।

–मंदाकिनी एन्क्लेव, नई दिल्ली

आध्यात्मिक-चिन्तन

इस संसार में अनादिकाल से आत्मा का शरीर से संबंध हो रहा है और इस रूप से उसके साथ जीव की तन्मयता हो रही है जो उसे अपना ही समझता है। वास्तव में शरीर पुद्गल द्रव्य का पिण्ड है और निरंतर गलन-पूरण इसमें होता रहता है और यह जीव मोह के वशीभूत होकर उस गलन-पूरण में हर्ष और विषाद का आस्वाद लेता रहता है। सामान्य मनुष्य तो इस तत्व को समझता ही नहीं केवल पर्याय बुद्धि होकर अपने जीवन को व्यय कर देते हैं— जब हमने शरीर को अपना मान लिया तब हमारे अभिप्राय के अनुकूल यदि इसका परिणमन हुआ तब तो हमें सुख होता है और न होने पर दुःख होता है— प्रवृत्ति में मूल कारण कषाय है। जब हमें असाता के उदय में क्षुधा लगती है तब हम अरति कषाय के सहकार से उद्विग्न हो जाते हैं और उसके दूर करने के अर्थ उन्हीं पदार्थों से उसकी निवृत्ति करना चाहते हैं जिन्हें हमने स्वाद समझ रखा है। यदि हमारे अभिप्राय के अनुकूल भोजन न मिले तब हमारे अंतरंग मे महती वेदना होती है जिसका अनुभव प्रत्येक भोजन करने वालो को है। यदि इसमें किसी को आशंका हो तब उसे निर्धन और सधन के भोजन की तारतम्यता से अपने ज्ञान को अभ्रान्त कर लेना चाहिए। इसी प्रकार पंचेन्द्रियों के विषय में अभ्रान्त सिद्धान्त का निर्णय कर लेना श्रेयस्कर है। अब यहां पर एक बात विचारणीय है— यह जो पंचेन्द्रियों के विषय हैं वह आनुषगिक दुखकर हैं स्वाभाविक पद्धति से न तो वह सुखकर ही हैं और न दुखकर हैं क्योंकि वह ज्ञेय हैं और तद्विषयक जो ज्ञान है वह भी न सुखकर है और न दुखकर है। इस सुख और दुख का मूलकारण कुछ और ही है। यदि वह हमारे ज्ञान में आ जावे तब हम बहुत अंशों में इस जाल से निवृत्त हो सकते हैं। परन्तु हम वहाँ तक जाते नहीं केवल विषयों को दुखकर और सुखकर जान उनके वियोग और संग्रह करने में अपना प्रयास लगा देते हैं तथा कुरंग राग के वशीभूत होकर व्याध द्वारा अपने प्राणों को विदीर्ण कराता है, मतंगज स्पर्शन इन्द्रिय के विषय स्पर्श द्वारा गर्त में पड़ता है, पतंग चक्षुरिन्द्रिय के विषय में लीन होकर अग्निज्वाला में भस्मसात् हो जाता है, भौंरा घ्राणेन्द्रिय के विषय गंध की लोलुपता से अपने प्राणों की आहुति कमलपुष्प में कर देता है इसी प्रकार से मीन मछली रसनेन्द्रिय के विषय के वश लोभ से वंशी द्वारा अपने प्राणों का नाश कर देती है। यह सब एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर अपने प्राणों को निछावर कर देते हैं। परन्तु जो जीव पंचेन्द्रिय के वश होकर अपनी प्रवृत्ति कर रहे हैं उनके दुख का कौन वर्णन करे? यही कारण है जो इस वेदना से मुक्त होने के लिए महापुरुष इसे

तृणवत् मानकर एकाकी निर्जन भूमि से जाकर दैगम्बरी दीक्षा का अवलम्बन कर आत्ममार्ग में लीन हो जाते हैं। तत्त्वदृष्टि से देखा जावे तब ये पंचेन्द्रिय विषय दुखदायी नहीं हैं इन्हें भोगने की जो कषाय है वही दुखदायी है। इसी से दौलत राम जी ने लिखा है— **'आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय'**— अर्थात् आत्मा को दुख देने वाले विषय और कषाय हैं इनमें परणति न जाए अर्थात् जब हमारी विषयोपयोग भोग में प्रवृत्ति होती है उस प्रवृत्ति के कारण हमारे अन्तरंग में कषायभाव हैं और वे ही भाव हमें उनके भोगने में प्रवृत्त कराते हैं यदि अंतरंग में कषाय न हो, कदापि हमारी प्रवृत्ति उनके अर्थ न होवे। जब मूल कारण तो कषाय भाव है, विषय तो निमित्त कारण हैं और निमित्त कारण बन्ध का कारण नहीं होता है। बन्ध का कारण तो कषाय भाव है— इसी से कुन्दकुन्द स्वामी ने बंधाधिकार में यह लिखा है—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होई जीवाणं।
ण हि वत्थुदो बंधो अज्झवसाणेण बंधो दु।।'

अर्थात् वस्तु अध्यवसान भावों के होने में निमित्त होती है, आवलम्बन के बिना अध्यवसान भाव नहीं होता यथा शूरवीर पुत्रों को उत्पन्न करने वाली माता के पुत्र को मैं रण में मारुं, ऐसा अध्यवसान भाव निर्भीक सैनिक के होता है, इस प्रकार भाव नहीं होता जो मैं बन्ध्या पुत्र को मारुँ क्योंकि बन्ध्यापुत्र अलीक वस्तु है। यदि वस्तु के अबलम्बन के बिना अध्यवसान भाव होने लगे तब 'मैं बन्ध्या के पुत्र को मारता हूँ' ऐसा भी अध्यवसान होने लगेगा सो असंभव है। अत· अध्यवसान बिना अवलम्बन के नहीं होता इसी पद्धति से उपाय की उत्पत्ति के प्रति विषय-निमित्त कारण है। यह निर्विवाद है।

—पूं. गणेशप्रसाद जी वर्णी द्वारा स्व-लिखित फोटो प्रति से

—केवली भगवान आदिनाथ के समय में अहम्मन्य कुछ लोगों के कारण ३६३ मत हो गए। बाद के काल में भी काष्ठा संघ आदि हुए। यदि इस काल में एक नया शौरसेनी संघ भी स्थापित हो जाय तो क्या आश्चर्य? अनुकूल सहकार जुटाकर कौन क्या कुछ नहीं कर सकता अर्थात् सबकुछ किया जा सकता है। भला, संस्थापकों में नाम लिखाने की चाह वैरागी के सिवाय किसे न होगी?

जैन कवि विनोदी लाल कृत 'नवकार मंत्र सवैया'

—डॉ गंगाराम गर्ग

तुलसीदास के सौ वर्ष बाद उनकी प्रसिद्ध रचना 'जानकी मंगल' ओर 'पार्वती मंगल' के आधार पर सोहर छंद में 'नेमिनाथ को नव मंगल' तथा लब्ध प्रतिष्ठ रेखताकार प्रतापसिंह ब्रजनिधि और नागरीदास से पहले रेखता साहित्य की रचना करने वाले विनोदीलाल की एक महत्वपूर्ण रचना 'नवकारमंत्र सवैया' भी है।

विनोदीलाल की अधिकांश रचनाओं में तीर्थंकर नेमिनाथ के प्रति अधिक भक्तिभाव होते हुए भी 'नवकार मंत्र सवैया में ऋषभदेव जी के प्रति आराधना भाव अधिक मुखरित हुआ है।

भक्ति भाव ·

जाकै चरणारविंदपूजत सुरिंद इंद्र देवन के वृंद
चंद सोमा अति भारी है।
जाकै नष पर रविकरण वारो,
मुष देष्यां कोटि कामदेव छवि हारी है।
जाकी देह दुति महा द्रपन देषियत
अपनो सरूप भव साथ की विचारी है।
कहत 'विनोदीलाल' मन बच तिहू काल,
अैसै नाभिनंदन कौं वंदना हमारी है।

तीर्थंकर ऋषभदेव के तेज और कान्ति का उल्लेख करने के अतिरिक्त उनके महिमागान मे कवि ने उनको उद्धारकर्त्ता मानकर उनकी शरण भी चाही है—

तुम तो जिनंद देव जु गतछिद्र भयो,
तुम छांडि कहो अब काहि जाहि ध्याइयो।
तारन तरन तुम्हारी सरन आयो,
तोहि लाज मेरी सब ऑगुण षीभाइयौ।।
मैं तो हू अजान बुद्धि तुम हौ जिनंद शुद्धि,
तुम्हारे गुनानुवाद कहाँताई गाइयो,
मन वच क्रम कीये कहत विनोदीलाल,
त्रिभुवन नाथ गति मोरीयौ बनाइये।

तीर्थंकरों के पूर्व गृहस्थ जीवन से विरक्त होने तथा समवशरण स्थल में तपस्या करने की स्थिति को सभी जैन भक्तों ने बडे भक्तिभाव के साथ गाया है। विनोदीलाल का एक सवैया है—

सिंघासन तीन जाके आसन बिराजमान,
सोहत असोक वृक्ष ताकी छवि न्यारी है।
तीन छत्र फिरै तिहू लोक के दिवाकर ज्यूं,
चौसठि चमर सुर ढारित सुढारी है।
दुंदाभ सबद दिव्य ध्वनि तिहू काल होत,

सुर पुष्प वृष्टि करै, सब सुखकारी है।
भामंडल छवि जैसे दर्प्पन विनोदीलाल,
अैसे नाभिनंदन कूं वंदना हमारी है।
जिन राज तप करि निरजरा करम कीने,
भयो ग्यांन केवल त्रिलोक उजियारी है।
समोवसरन आनि रचना कुबेर कीनी,
अतिसै विराजमान च्यारीतीस भारी है।
सेवत सकल इंद चंद ओर फणेन्द्र सबै,
मयो जिनराज निरवान पद धारी है।
मन बच क्रम कीयै कहत विनोदीलाल,
अैसे नाभिनंदन कू वंदना हमारी है।

नवकार मंत्र का महत्व :

तीर्थकर ऋषभदेव की वंदना कई सवैयों में प्रस्तुत कर देने के पश्चात् भक्त विनोदीलाल ने नवकार मंत्र के स्मरण का महत्व प्रतिपादित किया है। 'उल्लेख' और 'उपमा' अलंकारों से विभूषित उनके दो सवैये इस प्रकार हैं—

संकटहरन, सिव को करनहार अति ही उदार,
महादान वेसुमार हैं।
महिमा अपार जैन धर्म को सिंगार,
मुक्ति कामिनी को हारु सिवपंथ को करारू हैं।
कल्प वृक्ष की सी डार, चिंतामनि रत्नसार,
तारण तरणहारु मोहि इतवार है।
मन बच क्रम कीए कहत 'विनोदी लाल',
मेरे नवकार मंत्र प्रान के आधार है।।
मंत्र जापै निहिचै दीजै नीर,
अष्ट सिध नव निधि सब तैरे आई है।
देवनि की रिद्धि वृद्धि सकल समीप आव,
चक्रवर्ती को सो विभो आप तै आप बनाई है।
कामदेव की सी छवि तेज ज्यौं उद्यौत रवि,
चन्द्र सुदि की सी कला निति की बढाई है।
कहत 'विनोदी लाल' जपो नवकार माल,
जगत के सुख भुंजि मोक्ष पद पाई है।

पारस, कल्प वृक्ष, चित्राबेलि और कामधेनु की तुलना में नामस्मरण को अधिक फलदायक मानकर रविकारण माला 'व्यतिरेक' अनुप्रास और यमक अलंकारों के संभवत प्रयोग के साथ मोक्ष की दृष्टि से भी नामस्मरण का महत्व प्रतिपादित करते हैं—

काहा सुर तरु काहा चित्राबेलि कामधेनु काहा,
रस कूप काहा पारस के पाय तैं।
काहा रस पाय और रसाइन कामधेनु काहा,
कौन काज होतु तेरौ लक्ष्मी के आय तै।
धन पाये पुन्य होत पुन्य कीये राज होत,

राजतै नरक हो त्रिसना के बढाय तैं।
कहत 'विनोदीलाल' जपो नवकार माल,
पाइये परमपदपंच पद धारे तैं।

मध्यकालीन जैन कवि बलिप्रथा के रूप में विद्यमान हिंसा भाव तथा भूत प्रेतों की पूजा की निंदा कबीर जैसी तीखी भाषा में तो नहीं कर सके, किन्तु इनके प्रति व्यंग्यपूर्ण विरोध निरंतर गतिशील अवश्य रहा। अन्य पूजा पद्धतियों की अपेक्षा नाम स्मरण को अपेक्षाकृत श्रेष्ठता प्रदान करना निर्गुण संतकवियों के समान जैन साधकों का भी अभीष्ट था। नामस्मरण के प्रति विनोदीलाल की एकनिष्ठता दृष्टव्य है—

काहू कै तो धन है रूपीइया और मोहोर घनी,
काहू कै तो देखीइये तुरत भंडार है।
काहू कै कंचन माल, काहू हीरा मोती लाल,
काहू कै बसन सील, काहू कै हजार है।।
काहू कै तुरंग गज काहू कै अनंत राज,
काहू कै पटन देस महिमा अपार है।
कहत विनोदीलाल प्रभु जी कीये निहाल,
मेरै नवकार मंत्र प्रान को आधार है।।
काहू के बल देवन कौ भूत प्रेत इष्टनि कौ,
काहू कै तो चंडी मुंडी देवी क्षेत्रपाल कौ।
काहू कै बल लरिबे कौ, बस पाय मरबे को,
काहू कै बल मारिबे कौ, अपनै हथ्यार कौ।।
काहू कै बल ध्याइबे कौ, काहू कै कुमाइबे कौ।
काहू कै बल गाइबे कौ, काहू कौ उधार है।
कहत 'विनोदीलाल' जपत हौ तिहूं काल,
मेरे है अतुल बल, मंत्र नवकार कौ।।

विनोदीलाल की दृष्टि में नामस्मरण निर्भीकता और सुबुद्धि दोनों प्रदान करता है—

जगत मैं संजीवन है पंच नवकार मंत्र,
बार बार जपो याहि, जिन न भुलाइये।
सोवत उठत मुष धोवत विदेस जात,
रन मैं भुजंग सिंघ देखि न रुराइये।।
संकट न परै भूत रैन न छेरै
आगि मांहि नहि जरै और समुद्र परै जाइये।
ताकौं कहा करि सुर लोक है 'विनोदीलाल',
जपो नवकार माल मंत्र सेती लव ल्याइये।।
महा अंध कूप माहीं परे जगवासी जीव,
ताके गहिवे कूं जिनराज नव पाइ है।
ताकै हाथ परि मंत्र नवकार कहु चढि
ऊपर ठां आयौ सुध मेरी पाई है।
कुमति भगाई दई, सुमति प्रगट भई

जोति परगास भई, मारग दिषाई है।
सूधो चढयौ जात सुरलोक के 'विनोदीलाल,'
जिन नवकार मंत्र सेती लव लाई है।

नवकार मंत्रों के जाप में उद्धार करने की शक्ति इतनी है कि हिंसा, कुशील, अस्तेय आदि दुर्गुण भी इसमें व्यवधान नहीं डाल पाते—

हिंस्याके करिया, मुष झूंठ के बुलइया,
परधन के हरईया, करणां न जाकै हीर्य है।
सहत के खवईया, मद पान के करईया,
कंदमूल के भखईया, और कठोर अति हीये है
सील के गमईया, झूंठी साखि के करैइया
महान नरक के जवईया, जिन औ पाप कीये हैं।
तो उतरि जात छिन, एक मैं 'विनोदीलाल'
अंत समैं जिन, नवकार नाम लीये हैं।

भक्ति के प्रेरक तत्व :

आध्यात्मिक साधना अथवा भक्तिभाव की प्रेरणा-हेतु साधकों में संसार की नश्वरता और पूर्वकालीन जन्म-जन्मान्तरो के कष्टो के वर्णन की परम्परा दीर्घकाल से रही है। जैन कवि विनोदीलाल के सवैयो में इस परम्परा का निर्वाह विद्यमान है। व्यवहार जगत के अस्तित्व की क्षणिकता प्रदर्शित करने के लिए जलबिन्दु, दामिनी, स्वप्न तूलिका छाया आदि उपमान परम्परागत ही प्रयुक्त किए गए हैं।

अब कहत भईया जगत में न धनु कछू,
जैसो जल बिन्दु तैसो, सब जग जानिये।
तूलका कौ पात जैसो, छिन में विलाई जाय
दामिनी की दमक, चुमक ज्यों बखानिये।।
धन सुत वंधु नारि, सुपनि की संपत्ति है,
थिरता न कछू सब, छाय सी प्रमानिये।
कहत 'विनोदीलाल' जपो नवकार माल,
और सब संपदा अन्यत कर मानिये।

पुनर्जन्मो की लम्बी परम्परा को नट की कलाओ के समान ठहराकर कवि ने उसकी भर्त्सना की है।

संसार समुद्र मांहि पाये वारापार नाहिं,
फिरै गति च्यारौं ताकौ न दुष कहिये।
जूनि चौरासी लाख फिरत अनंत आयो,
नाना रूप धरै जैसे, नट वाजि सहिये।।
रोग होत सोग होत, मरन बिजोग होत,
जनम मरन हौंत कौं, नरकौ सहिये।
कहत 'विनोदीलाल', जपो नवकार माल,
भवजाल तोरि कै, सरन जिन गहिये।

भौतिक सुखों की निस्सारता और तन की अशुचिता के संकेत भी भक्ति भावना में दृढ़ता लाने की दृष्टि से ही दिए गए हैं।

घाम में मढ़ी देह, तासौ कहा तेरौ नेह,
मेरो भयौ है संदेह, या सूं कहा प्रीति करी है।
असुचि अपावन घिनन कृमिनि षेनिहार,
पिव पिंजर पुरस मुत्र भरी है।
ता मैं तुम प्रभ हंस की सी कलोल करै,
समुझत नाहि तेरी कौन मति हरी हे।
सदा तू अकेलो एक भेस धरे तै अनेक भयो
न विवेक तेरो काहा भटकतु है।
इंद भयो चंद भयो जग में नरेन्द्र भयो
कहत 'विनोदीलाल' जपो नवकार माल,
श्रावक जनम पायौ आई सुभ घरी है।

1.	श्री मल्लिनाथ जैन (पूर्व मुख्य अभियंता, दिल्ली नगर निगम)	अध्यक्ष
2.	डॉ० गोकल प्रसाद जैन	उपाध्यक्ष
3.	श्री बाबू लाल जैन, वक्ता	,,
4.	श्री सुभाष जैन	महसचिव
5	श्री विमल ~~लाल~~ प्रसाद जैन	सचिव
6	श्री धनपाल सिंह जैन	कोषाध्यक्ष
7.	श्री शान्ति ~~प्रसाद~~ लाल जैन	सदस्य
8.	श्री नन्हें मल जैन	सदस्य
9.	श्री शीलचन्द्र जैन (जौहरी)	सदस्य
10.	श्री भारत भूषण जैन (एडवोकेट) प्रकाशक अनेकान्त	सदस्य
11	श्री चक्रेश कुमार जैन	सदस्य
12	श्री विनोद कुमार जैन (I.A.L.)	सदस्य
13.	श्री महेन्द्र कुमार जैन (पूर्व पार्षद)	सदस्य
14	श्री श्रीपाल जैन	सदस्य
15	श्री रुपचन्द्र कटारिया	सदस्य
16	श्री हुकुमचन्द्र जैन	सदस्य
17	श्री सुम्तप्रसाद जैन	सदस्य
18.	श्री विनोद कुमार जैन (कागजी)	सदस्य
19.	श्री जगदीश प्रसाद जैन	सदस्य
20.	श्री लालचन्द जैन (एडवोकेट)	सदस्य

नैतिक शिक्षा क्यों?

वर्तमान भौतिक युग की चकाचौंध ने राष्ट्र एवं समाज का जितना चरित्र हनन किया है वह वर्णनातीत है। जिधर देखो उधर ही भ्रष्टाचार दृष्टिगोचर होता है– फिल्म एवं टी वी. के अश्लील कार्यक्रमों ने तो इसमें अग्नि में घृताहुति जैसा कार्य किया है। हम कहना चाहते हैं कि जब वर्तमान में कई शीर्ष नेताओं के हवाला तथा अन्य घोटाले जैसे विभिन्न काण्डों में लिप्तता के समाचार सुनते हैं तो आश्चर्यचकित, अवाक् रह जाते हैं–

"जब राजा ही अन्याय करे, तो प्रजा किसको याद करे।"

और तो और साधु, संन्यासी का वेष धारण करने वाले जब कारावास में बन्द हों तब तो वीभत्स दृश्य समक्ष आ जाता है। सर्वस्व त्यागी– जिनका जीवन भिक्षावृत्ति पर निर्भर हो, वे मठों का स्वामित्व ग्रहण कर उनमें सांसारिक सुख–सुविधाओं के साधन जुटाने से परहेज न करें। ऐसी विपरीत प्रवृत्तियों को देख, भावी–पीढ़ी का कैसा दृष्टिकोण निर्मित होगा? ऐसी सभी वृत्तियाँ राष्ट्रीय और सामाजिक परम्पराओ का ध्वंस करने वाली हैं। इनका प्रभाव भावी पीढ़ी पर ऐसा ही पडेगा जैसे घर में बैठा पिता अपने बच्चे से कहे कि– आगन्तुक से कह दे कि 'पिताजी ने कहा है कि वह घर पर नहीं है'– घर में नहीं हैं, आदि।

ऐसी विषम परिस्थितियों में हमें भावी–पीढी के कर्तव्यपरायणता एवं नैतिक मूल्यों की जानकारी देना अति आवश्यक हो गया है ताकि वें भले–बुरे में भेद कर सकें।

हमें प्रसन्नता है कि इस दिशा में कई संस्थाओं ने पग बढ़ाया है। ऐसी संस्थाओं में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, भा. दिगम्बर. जैन परिषद् एवं दिल्ली की दिगम्बर जैन नैतिक शिक्षा समिति आदि स्मरणीय हैं। राजकीय क्षेत्र में दिल्ली सरकार ने भी नैतिक शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार कर इस ओर ध्यान दिया है।

आशा है कि समाज के सत प्रयत्नों से इस विषय में भावी नागरिकों को शिक्षित कर, आदर्श स्थिति निर्मित होगी ताकि भविष्य में इन राष्ट्रीय एवं सामाजिक बुराइयों की पुनरावृत्ति न हो।

वीर सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैन ग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग 1

सस्कृत और प्राकृत के 171 अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह, उपयोगी 11 परिशिष्टों और पं. परमानन्द शास्त्री की इतिहास–विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द 6-00

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग 2

अपभ्रष के 122 अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशसितयों का महत्त्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ–परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। 15-00

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन 3-00

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या 74, सजिल्द। 7-00

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स. प बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री

प्रत्येक भाग 40-00

Basic Tenents of Jainism : By Shri Dashrath Jain Advocate. 5.00

Jaina Bibliography :

Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain References.) In Two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made availabe only in 600/- for one set of 2 volume. 600.00

'अनेकान्त'

आजीवन सदस्यता शुल्क : 101.00 रू.

वार्षिक मूल्य : 6 रु., इस अक का मूल्य : 1 रुपया 50 पैसे

यह अंक स्वाध्याय शालाओ एव मदिरों की मांग पर निःशुल्क

विद्वान लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारो से सहमत हो। पत्र मे विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नही लिए जाते।

संपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, संपादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक : श्री भारत भूषण जैन एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-2
मुद्रक : मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र–प्रवर्तक : आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष-49 किरण-3-4 जुलाई–दिसम्बर 96

वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज नई दिल्ली-110002

वर्णी-प्रवचन

जैनधर्म तो इतना विशाल और विशद है कि परमार्थ दृष्टि के परमात्मा से याचना नहीं करता, क्योंकि जैन सन्मत परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ है। अब आप ही बतलावें कि जहाँ परमात्मा में वीतरागता है वहाँ याचना से क्या मिलेगा? फिर कदाचित् आप लोग यह शका करे कि मंगलाचरण क्यों किया? उसका उत्तर यह है कि यह सब निमित्त कारण की अपेक्षा कर्तव्य है न कि उपादान की अपेक्षा। तथाहि—

'इति स्तुति देव विधाय दैन्याद्
वरंन वाचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छाया तरुं संश्रवतः स्वतः स्यात्
कश्छायया याचितयात्मलाभः।।

जब श्री धनजंय सेठ श्रीआदिनाथ स्वामी की स्तुति कर चुके तब अन्त में कहते हें कि हे देव ! इस प्रकार मै आपकी स्तुति करके दीनता से कुछ वर नहीं मॉगता, क्योंकि वर वहॉ मॉगा जाता है वहॉ मिलने की सम्भावना होती हैं आप तो उपेक्षक हैं— अर्थात् आपके न राग न द्वेष है आपके भाव ही देने के नहीं, क्योंकि जिसके भक्त में अनुराग हो वह भक्त की रक्षा करने में अपनी शक्ति काउपयोग कर सकता है, अत आपसे याचना करना व्यर्थ है। यहॉ प्रश्न हो सकता है कि यदि वस्तु की परिस्थिति इस प्रकार है तो स्तुति करना निष्फल हुआ। सो नहीं, उसका उत्तर यह है कि जैसे जो मनुष्य छायावृक्ष के नीचे बैठ गया उसे छाया का लाभ स्वयमेव हो रहा है, उसको वृक्ष से छाया की याचना करना व्यर्थ है। यहॉ पर विचार करो कि जो मनुष्य वृक्ष के निम्न भाग में बैठा है उसे छाया स्वयमंव मिलती है क्योंकि सूर्य की किरणों के निमित्त से जो प्रकाश परिणमन होता था वह किरणें वृक्ष के द्वारा रूक गई, अत वृक्ष के तल की भूमि स्वयमेव छायारूप परिणमन को प्राप्त हो गई। यद्यपि तथ्य यही है फिर भी यह वयवहार होता है कि वृक्ष की छाया है। क्या यथार्थ में छाया वृक्ष की है? छायारूप परिणमन तो भूमिका हुआ है। इसी प्रकार जब हम रुचिपूर्वक भगवान् को अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं तब हमारा शुभोपयोग निर्मल होता है। उसके द्वारा पाप प्रकृति का उदय मन्द पड़ जाता है अथवा अत्यन्त विशुद्ध परिणाम होने से पाप प्रकृति का संक्रमण होकर पुण्यरूप परिणमन हो जाता है। यद्यपि इस प्रकार के परिणमन में हमारा शुभ परिणाम कारण है, परन्तु व्यवहार यही होता है कि प्रभुवीतराग द्वारा शुभ परिणाम हुए अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग शुभ परिणामों में निमित्त हुए। यद्यपि उन शुभ परिणामों के द्वारा हमारा कोई अनिश्ट दूर होता है, परन्तु व्यवहार ऐसा ही होता है कि भगवान् ने हमारा संकट टाल दिया।

—मेरी जीवन गाथा से,

अनेकान्त

वर्ष ४६	वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२	जुलाई-दिसंबर
किरण-३-४	वी.नि.सं. २५२२ वि.सं. २०५३	१९९६

सम्बोधन

कहा परदेसी को पतियारो।
मन मानै तब चलै पंथ कों, सॉझि गिनै न सकारो।
सबै कुटुम्ब छाँडि, इतही, पुनि त्यागि चलै तन प्यारो।।१।।
दूर दिसावर चलत आपही, कोउ न राखन हारो।
कोऊ प्रीति करौ किन कोटिक, अंत होयगो न्यारो।।२।।
धन सौं रुचि धरमसों भूलत, झूलत मोह मझारो।
इहि विधि काल अनंत गमायो, पायो नहिं भव पारो।।३।।
साँचे सुख सौं विमुख होत है, भ्रम मदिरा मतवारो।
चेतहु चेत सुनहु रे 'भैया', आप ही आप संभारो।।४।।
कहा परदेसी को पतियारो।।

गरब नहिं कीजै रे ए नर निपट गँवार।
झूंठी काया झूंठी माया, छाया ज्यों लखि लीजै रे।
कै छिन साँझ सुहागरू जोबन, कै दिन जग में जीजै रे।।
बेगहि चेत विलम्ब तजो नर, बंध बढ़े थिति कीजै रे।
'भूधर' पल-पल हो है भारी, ज्यों-ज्यों कमरी भीजै रे।।

□

द्रव्यदृष्टि स्थायी पर्याय दृष्टि क्षणिक

जैनधर्म अनादि प्रकृति के स्वभाव का अवलम्बी होने से अनादि है। इसके सिद्धान्त वस्तु-स्वभाव का उसी मूलरूप में वर्णन करते है जिसमें वस्तु स्वय विद्यमान रहती है। परिवर्तन के सम्बन्ध में इसका अकाट्य सिद्धान्त 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्' और 'सद्द्रव्यलक्षणम्' के रूप मे निर्दिष्ट है— वस्तु में प्रत्येक क्षण उतपाद-व्यय और ध्रुव त्व रहते है और इसी हेतु वस्तु के परिवर्तन में भी उसे नित्य कहा जाताहै। वस्तु निज स्वभाव में रहने से नित्य और पर्याय मे परिवर्तन की अपेक्षा अनित्य है। यद्यपि लोगो को यह बात कुछ अटपटी सी लगेगी कि वस्तु नित्यानित्य उभय रूप, और वह भी एक समय मे है ऐसा कैसे हो सकता है? पर इसमे आश्चर्य नहीं कि जिसने 'अनेकान्त' के सिद्धान्त को समझा है उसकी दृष्टि मे वस्तु स्थिति स्पष्ट है— वह कथचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी है। मात्र पर्यायदृष्टि वाला अपना अहित करता है और द्रव्यदृष्टि वाला हित की ओर जाता है। द्रव्य दृष्टि वाला जानता है कि पर्याय अनित्य है उसमें उलझे रहने मात्र से अनित्यता-नश्वरता ही होगी और उससे प्रयोजन सिद्ध होने वाला नही, मात्र पछतावा ही रह जायगा। स्वामी समन्तभद्र प्रसिद्ध दार्शनिक हुए है। उन्होने पर्यायबुद्धि वालो की दशा का सुन्दर विवेचन किया है। देखें—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद स्थिति ष्वयम्
शोक प्रमोद माध्यस्थ जनो याति सहेतुकम्।।'

तीन व्यक्ति भिन्न-भिन्न उद्देश्यों को लेकर दरबार में पहुंचे। प्रथम घट प्राप्ति की चाहना को लेकर, दूसरा घट-खण्डों की चाहना को लेकर और तीसरा सुवर्ण प्राप्ति की चाहना को लेकर। दरबार में प्रवेश करना था कि घट गिर पडा और टुकडे हो गए। बस, क्या था? घटार्थी खेद खिन्न हुआ क्योंकि अब उसे घट नहीं मिल सकेगा। घट खण्ड पाने वाला खुश हो गया उसका काम बन जाएगा। परन्तु सुवर्ण (द्रव्य) चाहने वाला साम्यभाव में रहा। इनमें प्रथम दो पर्याय दृष्टि थे जो क्षणिक दुख और सुख के भागी बने और तीसरा द्रव्य दृष्टि था। स्मरण रहे द्रव्य का कभी नाश नहीं होता और पर्याय विनश जाती है। हमे स्थायी को देखना है और उसी में रहने में सुख है। स्थायित्व वस्तु का स्वभाव है, उसी की प्राप्ति हमारा लक्ष्य है। स्थायित्व में उत्पाद—व्यय उसका स्वयं का स्वभाव है।

चाणक्य और जैन परम्परा

--डॉ गोकुल प्रसाद जैन

जब अक्टुबर, 326 ईसा पूर्व मे सिकन्दर पजाब से वापिस हुआ, उस समय मगध में नन्दराजा राज्य कर रहा था। इसके लगभग एक मास बाद नवम्बर 326 ईसा पूर्व में चाणक्य के सहयोग से चन्द्रगुप्त मगध का शासक बना।

चन्द्रगुप्त मौर्यवशी क्षत्रिय था। जैन शास्त्रो के अनुसार, तीर्थकर महावीर से पूर्व "मौर्याख्य" नाम का एक राज्य (राजधानी-पिप्पलोपन) पूर्व भारत मे विद्यमान था जिसका समर्थन हेमचन्द्राचार्य और बौद्धग्रथ "महावश" से भी होता है। मौर्याख्य राज्य के क्षत्रिय जैन धर्मानुयायी थे और उस राज्य का एक क्षत्रिय पुत्र (मौर्य पुत्र) महावीर का गणधर भी था। एक मौर्य क्षत्रिय सम्राट महापद्म नन्द का सेनापति भी था। चन्द्रगुप्त मौयाख्य राज्य का क्षत्रियपुत्र होने के कारण ही मौर्य कहलाया।

चाणक्य की सहायता से नन्दवश का राज्य समाप्त कर चन्द्रगुप्त का 25 वर्ष की आयु मे राज्याभिषेक हुआ। नन्दवश भी जैन धर्म का अनुयायी था और मौर्य साम्राज्य मे भी जैन धर्म को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। मौर्यवश निरन्तर जैन धर्म के प्रति निष्ठावान् रहा तथा चन्द्रगुप्त मौर्य श्रृखलावद्ध ऐतिहासिक युग का प्रथम सम्राट बना। उसका साम्राज्य दक्षिण भारत तक फैला हुआ था।

चाणक्य ने नन्दवश के विनाश और मौर्य राज्य की स्थापना मे सभी क्षेत्रो मे पूर्ण सक्रिय और रचनात्मक योगदान किया था। वह उस युग का इतिहास पुरुष था जिसे युगस्रष्टा और युगदृष्टा होने का भी गौरव प्राप्त है। अपने गुरु चाणक्य के प्रभाव के कारण ही चन्द्रगुप्त जीवन भर एक आदर्श, श्रमणनिष्ठ और धर्मात्मा सम्राट रहा और अन्तमे श्रवणवेलगोल (जिला हासन कर्णाटक) से समाधिपूर्वक स्वर्गस्थ हुआ।

चाणक्य को विष्णुगुप्त, चाणावत, द्रोमिल, द्रोडिण, अंशुल, कौटिल्य आदि अनेक नामो से सबोधित किया जाता है। गोल्ल नामक ग्राम मे 'चणक' नामक एक जैन-ब्राह्मण रहता था जिसकी भार्या चणेश्वरी थी। उन्ही का पुत्र चाणक्य उनके समान ही श्रमणोपासक श्रावक[1] था।

इसी प्रकार, हरिषेण कथा कोष में था। ब्र नेमिदत्त कृत अराधना कथा कोष (भाग 3, पृष्ठ 46) मे चाणक्य के पिता का नाम कपिल और माता का नाम देविला लिखा है। वे वेद पारगत विद्वान् थे। महीधर नामक जैन मुनि से उन्होने जैन दीक्षा ग्रहण की थी।

बौद्ध ग्रथ महावश के टीकाकार ने लिखा है कि चाणक्य तक्षशिला का निवासी था और वेद शास्त्र का पारगत था, मत्र विद्या मे निष्णात था और नीतिशास्त्र का आचार्य था। वह अप्रतिम कूटनीतिज्ञ और राजनीति विशारद था तथा मौर्य साम्राज्य का मूल सस्थापक, उसका उद्धारक, विस्तारक, कुशल प्रशासक और महान सेना

---

१. आचार्य हेमचन्द्र कृत परिशिष्ट पर्व (पृष्ठ ७७), श्लोक स २००, २०१ आदि।

नायक था। वह जैन-ब्राह्मण था और उसका कुलधर्म जैन था।

जैन ग्रन्थ आवश्यक चूर्णि की निर्युक्ति (भाग 3, पृष्ठ 526) में चाणक्य का जीवन प्रसंग प्राप्त है। वह परम्परागत जैन होने के साथ-साथ जैन तत्वज्ञान सम्पन्न और परम सन्तोषी था तथा उसी ने अपने बुद्धि बल का उपयोग करके चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाया और मगधराज्य का विस्तार किया। ऐसे ही कथन जैन ग्रन्थ नन्दिसूत्र, उसकी टीका और उत्तराध्ययन की टीका में भी प्राप्त होते हैं। 13 वीं शताब्दी के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री हेमचन्द्राचार्य ने भी अपनी रचना "परिशिष्ट पर्व" के आठवे सर्ग में चाणक्य का जो जीवन परिचय दिया है, वह भी इसी के समरूप है। इसमें चाणक्य के विवाह का भी कथन है। तथा उसके सम्राट चन्द्रगुप्त का मत्रीश्वर होने का भी कथन है।

ब्राह्मण शब्द आज सनातनी हिन्दू का बोधक है परन्तु प्राचीन युग मे ऐसा नहीं था। व्यक्तिगत कर्म द्वारा लोग वर्णों मे विभाजित थे। वर्ण विभाजन जन्मना नहीं कर्मणा था। अनेक ऋषि शूद्र वर्ण मे जन्मे थे। जिन्होंने अपनी तपस्या के फलस्वरूप ऋषिपद प्राप्त किया था। ऋषि विश्वामित्र भी तो जन्मना क्षत्रिय था। सभी जैन तीर्थकर जन्मना क्षत्रिय थे किन्तु उनके अधिकाश गणधर ब्राह्मण थे। सभी जैन भट्टारक ब्राह्मण थे। अधिकाश जैन मुनि और यति जन्मना ब्राह्मण ही थे और आज भी है। ये सभी "जैन-ब्राह्मण" की कोटि मे आते है। इसी प्रकार, जैन ब्राह्मण-कुलोत्पन्न चाणक्य का भी जैनेतर साहित्य मे जहा भी ब्राह्मण के रूप में उल्लेख हुआ है, वहा सर्वत्र उससे जैन-ब्राह्मण उद्दिष्ट है

चाणक्य जैनाचार्य हुये थे और अपने 500 शिष्यो सहित उन्होंने देश विदेशों मे बिहार करके दक्षिण के वनवास नामक देश मे स्थित क्रौंचपुर नगर के निकट प्रायोपगमन सन्यास ले लिया[2] था। उन्हें जैन धर्म से अगाध प्रेम था। चन्द्रगुप्त के साधु होने की चर्चा विल्स कृत "हिन्दू ड्रेमेटिक वर्क्स" में भी आई है। (भूमिका भाग, 5810-26)

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री विसेन्ट स्मिथ ने अपनी आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इडिया के पृष्ठ 65 पर लिखा है कि "चन्द्रगुप्त ने राजगद्दी एक कुशल ब्राह्मण की सहायता से प्राप्त की थी, यह बात चन्द्रगुप्त के जैन धर्मावलम्बी होने के विरुद्ध नही पडती।"

जैन नन्दिसूत्र मे सर्वप्रथम चाणक्य का उल्लेख मिलता है। जो पांचवीं शताब्दी ईसवी की रचना है। वे जैन आचार्य स्थूलभद्र शकराल के ज्येष्ठ पुत्र और चन्द्रगुप्त के समकालीन और भाग्य विधाता थे। चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् चाणक्य कुछ समय तक सम्राट बिन्दुसार के महामात्य रहे। बाद मे श्रमण साधु बनकर आत्मचिन्तन में लीन हो गये। जैन ग्रथ आराधना हरिषेण कथा कोष और आराधना कथा कोष आदि मे चाणक्य के श्रमण दीक्षित होने और 500 श्रमणों के साथ तपस्या करके स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है। यही उल्लेख हेमचन्द्राचार्यकृत परिशिष्ट पर्व में है। उनके जीवन के उत्तरार्धकाल के विषय में इतिहासकारो को इससे अधिक जानकारी प्राप्त नही है।

चाणक्य के अर्थशास्त्र की प्राप्ति 1905 में हुई तथा उसके खोजकर्ता और

---

२. आराधना कथा कोष (भग ३, पृष्ठ ५१–५२) नेमिदत्त।

अनुवादक श्री आर शामशास्त्री थे। यह लगभग तीसरी से पांचवीं शती ईसवी की रचना मानी गई है। यही कौटिलीय अर्थशास्त्र भी कहलाता है। यह राजनीति का उत्कृष्ट ग्रंथ है जो चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के लिए लिखा था। यह इससे पूर्व के प्रसिद्ध अर्थशास्त्रो पर आधारित है तथा जैन परम्परा की रचना है। इसमे स्थान-स्थान पर सर्वत्र ऐसे प्रसग, विवरण और उल्लेख मिलते है जो जैन धर्म से संबंधित और उसके बोधक हैं।

कौटिल्य अर्थशास्त्र मे पशुओं के भोजन, गौओ के दुहने, और दूध मक्खन आदि की स्वच्छता के सम्बन्ध में विस्तार से नियम दिये गये है तथा पशुओ को निर्दयता और चोरी से बचाने के लिए सविस्तार नियम निर्धारित किये गये हैं। इस प्रकार पशुओं की रक्षा का विशेष विधान उसके लेखक का अहिसा प्रेमी होना प्रकट करता है।

अर्थशास्त्र मे सर्वत्र अनेक नीतिसूत्र दिये गये है जो जैन प्रभाव बोधक है। इसमें जैनाचार विषयक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है, यथा ·

क **"दया धर्मस्य जन्मभूमिः"**

ख **"अहिंसा लक्षणो धर्मः"**

ग **"मांसभक्षणमयुक्तं सर्वेषाम्"**

घ **"सर्वमनित्यं भवति"**

ड **"विज्ञानदीपेन संसार भयं निवर्तते" आदि।**

इसी प्रकार, अर्थशास्त्र मे स्थान-स्थान पर जैन लाक्षणिक शब्दो का प्रयोग हुआ है। ऐसे शब्द जैन तत्वज्ञान मे विशेष अर्थ रखते है, अन्यथा उनका शब्दिक अर्थ सर्वथा भिन्न है, यथा उपभेदवाची "प्रकृति" शब्द। जैन दर्शन मे कर्मो के 148 भेदो को कर्मो की प्रकृतियां कहते है अन्यथा "प्रकृति" शब्द भेद-प्रभेद वाची नहीं है। कौटिल्य ने "प्रकृति" शब्द का प्रयोग जैन विशिष्ट वाची उपभेद बोधक अर्थ में ही किया है, जैसे "अरि और मित्रादिक राष्ट्रो की कुल प्रकृतिया 72 होती है।" इस प्रकार के सभी प्रयोग जैन परम्परा बोधक हैं।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे राजा को प्रेरणा दी है कि राजा अपने नगर के बीच मे "विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामक देवताओं की स्थापना करे। ये चारो ही देवता जैन है। सासारिक दृष्टि से नगर के बीच मे इनके मन्दिरो के बनवाने की इसलिए आवश्यकता है कि ये चारो ही देवता उस स्थान के रहने वाले है जहा की सभ्यता ऐसी बढी-चढी है कि वहा पर प्रजासत्तात्मक राज्य अथवा साम्राज्य-शून्य ही ससार बसा हुआ है। ये अपनी बढी-चढी सभ्यता के कारण अहमिन्द्र कहलाते हैं और इनके रहने के स्थान को जैन शास्त्रो मे ऊचा स्वर्ग माना है। लोक शिक्षा के लिए तथा राजनति का उत्कृष्ट ध्येय बतलाने के लिए इन देवताओं का प्रत्येक नगर के बीच होना आवश्यक है।

इन उल्लेखों से और ऐसे ही अन्य उल्लेखो से, जो अर्थशास्त्र का अध्ययन करने से प्रकट होते है, चाणक्य का जैन धर्म विषयक श्रद्धान ही प्रकट होता है।

इस प्रकार, कौटिलीय अर्थशास्त्र पर जैन परम्परा का व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण इसे जैन परम्परा के ग्रंथो की कोटि मे रखा जा सकता है। □□

श्रमण संस्कृति : सर्वोदय दर्शन और पर्यावरण

—डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

जैनधर्म श्रमण सस्कृति की आधारशिला है। अहिसा, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद और एकात्मकता उसके विशाल स्तम्भ है जिन पर उसका भव्य प्रासाद खडा हुआ है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप उसके सोपान है। जिसके माध्यम से भव्य प्रासाद के ऊपर तक पहुचा जा सकता है। सर्वोदय उसकी लहराती सुन्दर ध्वजा है जिसे लोग दूर से ही देखकर उसकी मानवीय विशेषता को समझ लेते है। समता इस ध्वजा का मेरुदण्ड है जिस पर वह अवलम्बित है और वीतरागता उस प्रासाद की रमणीकता है जिसे उसकी आत्मा कहा जा सकता है।

श्रमण सस्कृति की ये मूलभूत विशेषताए सर्वोदय दर्शन मे आसानी से देखी जा सकती है। सर्वोदय दर्शन वस्तुत· आधुनिक चेतना की देन नही। उसे यथार्थ मे महावीर ने प्रस्तुत किया था। उन्होने सामाजिक देन की विषमता को देखकर क्रान्ति के तीन सूत्र दिये— 1 समता, 2 शमता, 3 श्रमशीलता। समता का तात्पर्य है सभी व्यक्ति समान है। जन्म से न तो कोई ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है न वैश्य है, न शूद्र है। मनुष्य तो जाति नाम कर्म के उदय से एक ही है। आजीविका और कर्म के भेद से अवश्य उसे चार वर्गो में विभाजित किया जा सकता है—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोदभवा।
वृत्तिभेदाहितद्भेदाच्चतुर्विध्यामिहाश्नुते।। जिनसेनाचार्य आदिपुराण, 38.45

शमता कर्मो के समूल विनाश से सबद्ध है। इस अवस्था को निर्वाण कहा जाता है। वैदिक सस्कृति का मूलरूप स्वर्ग तक ही सीमित था। उसमें निर्वाण का कोई स्थान ही नही था। जैनधर्म के प्रभाव से उपनिषद्काल मे उसमें निर्वाण की कल्पना ने जन्म लिया। जैनधर्म के अनुसार निर्वाण के दरवाजे सभी के लिए खुले हुए है। वहा पहुंचने के लिए किसी वर्ग का विशेष में जन्म लेना आवश्यक नही। आवश्यक है, उत्तम प्रकार का चारित्र और विशुद्ध जीवन।

श्रमशीलता श्रमण संस्कृति की तीसरी विशेषता है। इसका तात्पर्य है व्यक्ति का विकास उसके स्वयं के पुरुषार्थ पर निर्भर करता है, ईश्वर आदि की कृपा पर नहीं। वैदिक संस्कृति मे स्वयं का पुरुषार्थ होने के बावजदू उस पर ईश्वर का अधिकार है। ईश्वर की कृपा से ही व्यक्ति स्वर्ग और नरक जा सकता है। जैन संस्कृति में इस प्रकार के ईश्वर का कोई स्थान नहीं। वह तो कुछ भी कर्म करता है उसी का फल उसी को स्वत मिल जाता है। कर्म के कर्ता और भोक्ता के बीच

ईश्वर जैसे दलाल का कोई स्थान नही। ईश्वर यदि हम आप जैसा दलाल होगा और सृष्टि के रचने संरक्षण करने और विनाश करने मे उसी की मर्जी होगी तो ईश्वर में और हम आप जैसे संसारी जीवों मे भेदक-रेखा ही क्या रहेगी? हॉ, जैनधर्म में दान-पूजा भक्ति भाव का महत्व निश्चित ही है। इन सत्कर्मों के माध्यम से साधक अपने निर्वाण की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त अवश्य कर लेता है। इसमें तीर्थकर मात्र मार्गदृष्टा है प्रदीप के समान, वह निर्वाणदाता नहीं। इसलिए व्यक्ति के स्वय का पुरुषार्थ ही उसके लिए सब कुछ हो जाता है। ईश्वर की कृपा से उसका कोई सबध नहीं। पराश्रय से विकास अवरूद्ध हो जाता है। बैसाखी का सहारा स्वयं का सहारा नही माना जा सकता। अत· जैनधर्म मे व्यक्ति का कर्म और उसका पुरुषार्थ ही प्रमुख है।

सवोदयदर्शन आधुनिक काल मे गाधीयुग का प्रदेय माना जाता है। गाधीजी ने रस्किन की पुस्तक "अन टू दी लास्ट" का अनुवाद सर्वोदय शीर्षक से किया और तभी से उसकी लोकप्रियता मे बाढ आयी। यहा सर्वोदय का तात्पर्य है प्रत्येक व्यक्ति को लौकिक जीवन के विकास के लिए समान अवसर प्रदान किया जाना। इसमे पुरुषार्थ का महत्व तथा सभी के उत्कर्ष के साथ स्वय के उत्कर्ष का संबंध भी जुडा रहता है। गाधीजी के इस सिद्धान्त को विनोबाजी ने कुछ और विशिष्ट प्रक्रिया देकर कार्यक्षेत्र मे उतार दिया। सर्वोदय का प्रचार यहीं से हुआ है। वैसे इतिहास की दृष्टि से विचार किया जाये तो सर्वोदय शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जैन साहित्य मे हुआ है। प्रसिद्ध जैन तार्किक आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर की स्तुति "युक्त्यनुशासन" मे "सर्वोदय तीर्थमिंदं तवैव" कहकर की है। यहां सर्वोदय शब्द दृष्टव्य है। सर्वोदय का तात्पर्य है सभी की भलाई। महावीर के सिद्धान्तो मे सभी की भलाई सन्निहित है। उसमे परिश्रम और समान अवसर का भी लाभ प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुरक्षित है।

राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि भाव, सपत्ति का अपरिमित सग्रह, दूसरे की दृष्टि को बिना समझे ही निरादरकर सघर्ष को मोल लेना तथा राष्ट्रीयता का अभाव ये चार प्रमुखतत्त्व व्यक्ति के विकास मे बाधक होते हैं। सभी का विकास, 1 अहिसा, 2 अपरिग्रह, 3 अनेकान्तवाद ओर 4 एकात्मता पर विशेष आधारित है। अतः जैनधर्म के इन सर्वोदयी सूत्रो पर संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है। जिनका सम्बन्ध समूचे पर्यावरण से हैं।

समता और पर्यावरण

अहिंसा सर्वोदय की मूल भावना है। वह अपरिग्रह की भूमिका को मजबूत करती है। अहिसा समत्व पर प्रतिष्ठित है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ भावों का अनुवर्तन, समता और अपरिग्रह का अनुचिन्तन, तप और अनेकान्त का अनुग्रहण तथा संयम और सच्चरित्र का अनुसाधन अहिंसा का प्रमुख रूप है। उसकी पुनीत प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र पर अवलंबित है। इसी चरित्र को धर्म कहा गया है। यही धर्म सम है। यह समत्व राग-द्वेषादिक विकारों के विनष्ट

होने पर उत्पन्न होने वाला विशुद्ध आत्मा का परिणाम है। धर्म से परिणत आत्मा को ही सम कहा गया है। धर्म की परिणीति निर्वाण है। आचार्य कुन्दकुन्द का यही चितन है—

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुर मणुवरावविहवेहिं।
जीवम्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो।।
चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जोसो समो ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो।। —प्रवचनसार, 1, 6, 7

धर्म व स्तुत आत्मा का स्पन्दन है जिसमें कारूण्य, सहानुभूति, सहिष्णुता, परोपकार वृत्ति आदि जैसे गुण विद्यमान रहते हैं। वह किसी जाति या सम्प्रदाय से संबद्ध और प्रतिबद्ध नही। उसका स्वरूप तो सार्वजनिक, सार्वभौमिक और लोकमागलिक है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व का अभ्युत्थान ऐसे ही धर्म की परिसीमा से सभव है।

हिंसा के चार भेद हो जाते हैं— स्वभावहिसा, स्व-द्रव्यहिसा, पर-भावहिसा और पर-द्रव्यहिंसा (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, 43)। आचार्य उमास्वामी ने इसी का संक्षेप "प्रमत्तयोगात्, प्राणव्यपरोपणं हिसा" कहा है। इसलिए भिक्षुओं को कैसे चलना फिरना चाहिए, कैसे बोलना चाहिए आदि जैसे प्रश्नो का उत्तर दशवैकालिक, मूलाचार आदि ग्रन्थों में दिया गया है कि उसे यत्नपूर्वक अप्रमत्त होकर उठना-बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन-भाषण करना चाहिए।

कहं चरे कहं चिट्ठे कहं भासे कहं सए
कयं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धई
जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए
जयं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बंधई।। —दशवैकालिक, 4,7,8

हिसा का प्रमुख कारण रागादिक भाव है। उनके दूर हो जाने पर स्वभावत अहिंसा भाव जाग्रत हो जाता है। दूसरे शब्दों मे समस्त प्राणियो के प्रति संयमभाव ही अहिंसा है— अहिंसा निउण दिट्ठा सब्बभूएसु सजमो (दश)। उसके सुख संयम में प्रतिष्ठित है। संयम ही अहिंसा है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि वे परस्पर एकात्मक कल्याण मार्ग से अबद्ध हों। उसमे सौहार्द, आत्मोत्थान, स्थायी शान्ति, सुख और पवित्र साधनों का उपयोग होता है। यही यथार्थ में उत्कृष्ट मंगल है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।। —दशवैकालिक 1,1

मन, वचन, काय से संयमी व्यक्ति स्व पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का आगार होता है। शील, संयमादि गुणों से आपूर व्यक्ति ही सत्पुरूष है। जिसका चित्त मलीन व दूषित रहता है वह अहिंसा का पुजारी कभी नहीं हो सकता। जिस प्रकार पीसना, छेदना, तपाना, रगडना इन चार उपायों से स्वर्ण की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार श्रुत, शील, तप और दया रूप गुणों के द्वारा धर्म एवं व्यक्ति

की परीक्षा की जाती है।

संजमु सीलु सउज्जं तवु सूरि हि गुरु सोई।
दाह-छेदक-संघायकसु उत्तम कंचणु होइ।। भावपाहुड 143 टीका

जीवन का सर्वागीण विकास करना संयम का परम उद्देश्य रहता है। सूत्रकृतांग में इस उपदेश का एक रूपक के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार कछुआ निर्भय स्थान पर निर्भीक होकर चलता-फिरता है किन्तु भय की आशका होने पर शीघ्र ही अपने अंग-प्रत्यग प्रच्छन्न कर लेता है, और भय-विमुक्त होने पर पुन अग-प्रत्यग फैलाकर चलना-फिरना प्रारंभ कर देता है, उसी प्रकार संयमी व्यक्ति अपने साधना मार्ग पर बडी सतर्कता पूर्वक चलता हैं सयम की विराधना का भय उपस्थित होने पर वह पचेन्द्रियो व मन को आत्मज्ञान (अतर) मे ही गोपन कर लेता है-

जहां मुम्मे स अंगाइ सए देहे समाहरे।
एवं पावाई मेहावी अज्झप्पेण समाहरे। सूत्रकृतांग, 1, 8, 6

सयमी व्यक्ति सर्वोदयनिष्ठ रहता है। वह इस बात का प्रयत्न करता है कि दूसरे के प्रति वह ऐसा व्यवहार करे जो स्वय को अनूकूल लगता हो। तदर्थउसे मैत्री, कारूण्य और माध्यस्थ भावनाओ का पोषक होना चाहिए। सभी सुखी और निरोग हों, किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो, ऐसा प्रयत्न करे।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सन्तु सर्वे निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु या कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।।
माऽकार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत कोऽपि दुःखतः
मुच्यता जगदप्येषा मति मैत्री निगद्यते।। यशस्तिलकचम्पू उत्तरार्ध

दूसरो के विकास में प्रसन्न होना प्रमोद है। विनय उसका मूल साधन है। ईर्ष्या उसका सबसे बडा अन्तराय है। कारूण्य अहिसा भावना का प्रधान केन्द्र है। दु खी व्यक्तियो पर प्रतीकात्मक बुद्धि से उनमे उद्धार की भावना ही कारूण्य भावना है। माध्यस्थ भावना के पीछे तटस्थ बुद्धि निहित है। नि शंक होकर क्रूर कर्मकारियों पर आत्मप्रशंसको पर, निदको पर उपेक्षाभाव रखना माध्यस्थ भाव है। इसी को समभाव भी कहा गया है। समभावी व्यक्ति निर्मोही, निरहंकारी, निष्परिग्रही, स्थावर जीवो का सरक्षक तथा लाभ-अलाभ मे, सुख-दु ख मे, जीवन-मरण में, निन्दा-प्रशंसा में, मान-अपमान मे, विशुद्ध हृदय से समदृष्ट होता है। समताजीवी व्यक्ति ही मर्यादाओ व नियमों का प्रतिष्ठापक होता है। वही उसकी समाचरिता है। वही उसकी सर्वोदयशीलता है।

महावीर की अहिंसा पर विचार करते समय एक प्रश्न हर चिन्तक के मन में उठ खडा होता है कि संसार में जब युद्ध आवश्यक हो जाता है, तो उस समय साधक अहिंसा का कौन-सा रूप अपनायेगा। यदि युद्ध नहीं करता है तो आत्मरक्षण और राष्ट्ररक्षा दोनो खतरे में पड़ जाती है और यदि युद्ध करता है तो अहिंसक कैसा? इस प्रश्न का समाधान जैन चिन्तकों ने किया है। उन्होंने कहा कि आत्मरक्षा

और राष्ट्ररक्षा करना हमारा कर्तव्य है। चंद्रगुप्त, चामुण्डराय, खारवेल आदि जैसे धुरन्धर जैन अधिपति योद्धाओं ने शत्रुओं के शताधिक बार दांत खट्टे किए हैं। जैन साहित्य में जैन राजाओं की युद्धकला पर भी बहुत कुछ लिखा मिलता है। बाद में उन्हीं राजाओं को वैराग्य लेते हुए भी प्रदर्शित किया गया है। यह उनके अनासक्ति भाव का सूचक है। अतः यह सिद्ध है कि रक्षणात्मक हिंसा पाप का कारण नहीं है। ऐसी हिंसा को तो वीरता कहा गया है। यह विरोधी हिंसा है। चूर्णियों और टीकाओं में ऐसी हिंसा को गर्हित माना गया है। सोमदेव ने इसी स्वर में अपना स्वर मिलाते हुए स्पष्ट कहा है–

यः शस्त्रवृत्ति समरे रिपुः स्यात् यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
तमैव अस्त्राणि नृपाः क्षिपन्ति न दीनकालीन कदाशयेषु।।

अपरिग्रह और पर्यावरण

अपरिग्रह सर्वोदय का अन्यतम अग है। उसके अनुसार व्यक्ति और समाज परस्पर आश्रित हैं। एक दूसरे के सहयोग के बिना जीवन का प्रवाह गतिहीन-सा हो जाता है (पर परस्परोपग्रहो जीवानाम्)। प्रगति सहमूलक होती है, संघर्षमूलक नहीं। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच संघर्ष का वातावरण प्रगति के लिए घातक होता है। ऐसे घातक वातावरण के निर्माण में सामाजिक विषम वातावरण प्रमुख कारण होता है। तीर्थंकर महावीर ने इस तथ्य की मीमांसा कर अपरिग्रह का उपदेश दिया और सही समाजवाद की स्थापना की।

समाजवादी व्यवस्था मे व्यक्ति को समाज के लिए कुछ उत्सर्ग करना पडता है। दूसरो के सुख के लिए स्वयं के सुख को छोड देना पडता है। सासारिक सुखो का मूल साधन संपत्ति का सयोजन होता है। हर सयोजन की पृष्ठभूमि मे किसी न किसी प्रकार का राग द्वेष, मोह आदि विकार भाव होता है। संपत्ति के अर्जन मे सर्वप्रथम हिसा होती है। बाद में उसके पीछे झूठ, चोरी, कुशील अपना व्यापार बढाते है। सपत्ति का अर्जन परिग्रह ही संसार का कारण है।

जैन संस्कृति वस्तुत मूल रूप से अपरिग्रहवादी संस्कृति है। जिन, निर्गन्थ, वीतराग जैसे शब्द अपरिग्रह के ही द्योतक है। अप्रमाद का भी उपयोग इसी संदर्भ में हुआ। मूर्छा को परिग्रह कहा गया है। यह मूर्छा प्रमाद है और प्रमाद कषायजन्य भाव है। राग द्वेषादि भाव से ही परिग्रह की प्रवृत्ति बढती है। मिथ्यात्व कषाय, नोकषाय, इन्द्रिय विषय आदि अन्तरंग परिग्रह है और धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह हैं। आश्रव के कारण हैं। इन कारणों से ही हिंसा होती है **प्रमत्तयागात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा**। यह हिंसा कर्म है और कर्म परिग्रह है।

आचारांगसूत्र कदाचित्, प्राचीनतम आगम ग्रन्थ है। उसका प्रारम्भ ही शस्त्रपरीक्षा से होता है। शस्त्र का तात्पर्य है हिंसा। हिंसा के कारणों की मीमांसा करते हुए वहां स्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति वर्तमान जीवन के लिए, प्रशस्त, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए, दुःख प्रतिकार के लिए तरह-तरह

की हिंसा करता है। द्वितीय अध्ययन लोकविजय में इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि सांसारिक विषयों का सयोजन प्रमाद के कारण होता है।

प्रमादी व्यक्ति रात दिन परितप्त रहता है, काल या अकाल में अर्थार्जन का प्रयत्न करता है, संयोग का अर्थी होकर अर्थलोलुपी चोर या लुटेरा हो जाता है। उसका चित्त अर्थार्जन मे ही लगा रहता है। अर्थार्जन में सलग्न पुरुष पुन· पुन· शस्त्रसहारक बन जाता है। परिग्रही व्यक्ति मे न तप होता है, न शान्ति और न नियम होता है। यह सुखार्थी होकर दु·खी बन जाता है।

इस प्रकार संसार का प्रारम्भ आसक्ति से होता है और आसक्ति ही परिग्रह है। परिग्रह का मूल साधन हिसा है, झूठ, चोरी कुशील उसके अनुवर्तक है और परिग्रही उसका फल है। अत जैन सस्कृति मूलत अपरिग्रहवादी सस्कृति है जिसका प्रारम्भ अहिसा के परिपालन मे होता है। महावीर ने अपरिग्रह को ही प्रधान माना है।

आधुनिक युग मे मार्क्स साम्यवाद के प्रस्थापक माने जाते है। उन्होंने लगभग वही बात की है जो आज से 2500 वर्ष पूर्व तीर्थंकर महावीर कह चुके थे। तीर्थंकर महावीर ने ससार के कारणो की मीमासा कर उनसे मुक्त होने का उपाय भी बताया पर मार्क्स आधे रास्ते पर ही खडे रहे। दोनो महापुरुषो के छोर अलग-अलग थे। महावीर ने "आत्मातुला" की बातकर समता की बात कही और हर क्षेत्र मे मर्यादित रहने का सुझाव दिया। परिमाणव्रत वस्तुत सपत्ति का आध्यात्मिक विकेन्द्रीकरण है और अस्तित्ववाद उसका केन्द्रीय तत्त्व है। जबकि मार्क्सवाद मे ये दोनो तत्त्व नहीं हैं।

परिग्रही वृत्ति व्यक्ति को हिसक बना देती है। आज व्यक्तिनिष्ठा कर्तव्यनिष्ठा को चीरती हुई स्वकेन्द्रित होती चली जा रही है। राजनीति और समाज मे भी नये-नये समीकरण बनते चले आये है। राजनीति का नकारात्मक और विध्वसात्मक स्वरूप किकर्तव्य विमूढ-सा बन रहा है। परिग्रही लिप्सा से आसक्त असामाजिक तत्त्वों के समक्ष हर व्यक्ति घुटने टेक रहा है। डग-डग पर असुरक्षा का भान हो रहा है। ऐसा लगता है, सारा जीवन विषाक्त परिग्रही राजनीति मे उदरस्थ हो गया है। वर्गभेद, जातिभेद, सप्रदायभेद जैसे तीखे कटघरे मे परिग्रह के धूमिल साये में स्वतन्त्रता/स्वच्छन्दता पूर्वक पल पुस रहे है।

इस हिंसकवृत्ति से व्यक्ति तभी विमुख हो सकता है जब वह अपरिग्रह के सोपान पर चढ जाये। परिग्रह परिमाणव्रत का पालन साधक को क्रमश· तात्विक चिन्तन की ओर आकर्षित करेगा। और समता भाव तथा समविभाजन की प्रवृत्ति का विकास होगा। अणुव्रत की चेतना सर्वोदय की चेतना है। पर्यावरण इसी चेतना का अंग है।

अनेकान्तवाद : सर्वोदयदर्शन और पर्यावरण का संमिलन

अनेकान्तवाद और सर्वोदयवाद पृथक् नहीं किये जा सकते। अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा की भूमिका पर प्रतिष्ठित तीर्थंकर महावीर का सार्वभौमिक है

जो सर्वधर्मभाव के चिन्तन से अनुप्राणित है। उसमे लोकहित, लोकसंग्रह और सर्वोदय की भावना गर्भित है। धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करने का अभेद्य अस्त्र है। दूसरे के दृष्टिकोण का अनादर करना और उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना ही संघर्ष का मूल कारण होता है। ससार में जितने भी युद्ध हुए हैं उनके पीछे यही कारण रहा है। अतः संघर्ष को दूर करने का उपाय यही है कि हम प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र के विचारों पर उदारता और निष्पक्षता पूर्वक विचार करें। उससे हमारा दृष्टिकोण दुराग्रही और एकांगी नहीं होगा।

प्राचीन काल से ही समाज शास्त्रीय और अशास्त्रीय विसंवादों से जूझता रहा है, बुद्धि और तर्क के आक्रमणो को सहता रहा है, आस्था और ज्ञान के थपेडो को झेलता रहा है। तब कहीं एक लम्बे समय के बाद उसे यह अनुभव हुआ कि इन बौद्धिक विषमताओं के तीखे प्रहारो से निष्पक्ष और निर्वैर होकर मुक्त हुआ जा सकता है, शान्ति की पावन धारा मे संगीतमय गोते लगाये जा सकते हैं और वादों के विषैले घेरे को मिटाया जा सकता है। इसी तथ्य और अनूभूति ने अनेकान्तवाद को जनम दिया और इसी ने सर्वोदयदर्शन की रचना की।

समाज की अनैतिकता को मिटाने तथा शुद्ध ज्ञान और चारित्र का आचरण करने की दृष्टि से अनेकान्तवाद और सर्वोदयदर्शन एक अमोघ सूत्र है। समता की भूमिका पर प्रतिष्ठित होकर आत्मदर्शी होना उसके लिए आवश्यक है। समता मानवता की सही परिभाषा है, समन्वयवृत्ति उसका सुन्दर अबर है, निर्मलता और निर्भयता उसका फुलस्टाप है, अपरिग्रहवृत्ति और असाम्प्रदायिकता उसका पैराग्राफ है।

अनेकान्तिक और सर्वोदय चिन्तन की दिशा में आगे बढने वाला समाज पूर्ण अहिसक और आध्यात्मिक होगा। सभी को उत्कर्ष में वह सहायक होगा। उसके साधन और साध्य पवित्र होगे। तर्क शुष्कता से हटकर वास्तविकता की ओर बढेगा। हृदय-परिवर्तन के माध्यम से सर्वोदय की सीमा को छुएगा। चेतना-व्यापार के साधन इन्द्रियां और मन संयमित होगे। सत्य की प्रमाणिकता असंदिग्ध होती चली जायेगी। सापेक्षिक चिन्तन व्यवहार के माध्यम से निश्चयतक क्रमश· बढता चला जायेगा स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, बहिरंग से अन्तरंग की ओर सांव्यावहारिक से पारमार्थिक की ओर, ऐन्द्रयिक ज्ञान से आत्मिक ज्ञान की ओर।

अनेकान्तवाद और सर्वोदय दर्शन समाज के लिए वस्तुतः एक संजीवनी है। वर्तमान संघर्ष के युग में अपने आपको सभी के साथ मिलने-जुलने का एक अभेद्य अनुदान है, प्रगति का एक नया साधन है, पारिवारिक द्वेष को समाप्त करने का एक अनुपम चिंतन है, अहिंसा और सत्य की प्रतिष्ठा का केन्द्र बिन्दु है, मानवता की स्थापना में नीव का पत्थर है, परस्परिक समझ और सह अस्तित्व के क्षेत्र में एक सबल लेंप पोष्ट है। इनकी उपेक्षा विद्वेष और कटुता का आवाहन है, संघर्षो

की कांक्षाओं का प्लाट है, विनाश उसका क्लायमेक्स है, विचारो और दृष्टियों की टकराहट तथा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच खडा हुआ एक लंबा गैप वैयक्तिक और सामाजिक संघर्षो को लांघकर राष्ट्र और विश्वस्तर तक पहुंच जाता है। हर संघर्ष का जन्म विचारों का मतभेद और उसकी पारस्परिक अवमानना से होता है। बुद्धिवाद उसका केन्द्रबिन्दु है।

अनेकान्तवाद बुद्धिवादी होने का आग्रह नही करता। आग्रह से तो वह मुक्त है ही पर वह इतना अवश्य कहता है कि बुद्धिनिष्ठ बनों। बुद्धिवाद खतरावाद है, विद्वानों की उखाडा-पछाडी है। पर बुद्धिनिष्ठ होना खतरा और सघर्षो से मुक्त होने के साधन है। यही सर्वोदयवाद है। इसे हम मानवतावाद भी कह सकते हैं जिसमें अहिसा, सत्य, सहिष्णुता, समन्वयात्मकता, सामाजिकता, सहयोग, सद्भाव, और संयम जैसे आत्मिक गुणो का विकास सन्नद्ध है। सामाजिक और राष्ट्रीय उत्थान भी इसकी सीमा मे बहिर्भूत नही रखे जा सकते। व्यक्तिगत, परिवारगत, संस्थागत और सम्प्रदायगत विद्वेष की विषैली आग का शमन भी इसी के माध्यम से होना संभव है। अत सामाजिकता के मानदण्ड मे अनेकान्तवाद और सर्वोदयवाद खरे उतरे है।

धर्म के साथ एकात्मकता अविच्छिन्न रूप से जुडी है। राष्ट्र का अस्तित्व एकात्मकता की श्रृखला से सबद्ध है। राष्ट्रीयता का जागरण उसके विकास का प्राथमिक चरण है। जन-मन में शान्ति, सह अस्तित्व और अहिसात्मकता उसका चरम बिन्दु है। विविधता मे पली-पुसी एकता सौजन्य और सौहार्द को जन्म देती हुई **"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"** का पाठ पढाती है।

जैन श्रमण व्यवस्था ने उस एकात्मकता को अच्छी तरह परखा और सजोया भी अपने विचारो मे उसे जैनाचार्यो और तीर्थकरो ने समता, पुरुषार्थ और स्वावलम्बनको प्रमुखता देकर जीवन को एक नया आयाम दिया। श्रमण सस्कृति ने वैदिक सस्कृति में धोखे-धाखे से आयी विकृत परपराओं के विरोध में जेहाद बोल दिया और देखते ही देखते समाज का पुनः स्थितिकरण कर दिया। यद्यपि उसे इस परिवर्तन मे काफी कठिनाइयो का सामना करना पडा पर अन्ततोगत्वा उसने एक नये समाज का निर्माण कर दिया। इस समाज की मूल निधि चारित्रिक पवित्रता और दृढता थी जिसे उसने थाती मानकर कठोर झझावातो में भी अपने आपको संभाले रखा।

जीवन की यथार्थता प्रामाणिकता से परे होकर नहीं हो पाती। साध्य के साथ साधनों की पवित्रता भी आवश्यक है। साधन यदि पवित्र और विशुद्ध नहीं होंगे, बीज यदि सही नही होंगे तो उससे उत्पन्न होने वो फल मीठे कैसे हो सकते है? जीवन की सत्यता धर्म है। धोखा-प्रबंचना जैसे असामाजिक तत्वों को उसके साथ कोई सामंजस्य नहीं। धर्म और है भी क्या? धर्म का वास्तविक संबंध खान-पान और दकियानूसी विचारधारा में जुड़े रहना नहीं, वह तो ऐसी विचार क्रांति से जुड़ा है जिसमे मानवता और सत्य का आचरण कूट-कूट कर भरा है। एकात्मकता और

सर्वोदय की पृष्ठभूमि में जीवन का यही रूप पलता-पुसता है। आज की भौतिकता प्रधान संस्कृति में जैन धर्म सर्वोदयतीर्थ का काम करता है। जैनधर्म वस्तुत· एक मानव धर्म है उसके अनुसार व्यक्ति यदि अपना जीवन-रथ चलाये तो वह ऋषियों से भी अधिक पवित्र बन सकता है। श्रावक की विशेषता यह है कि उसे न्याय-पूर्वक धन-सम्पत्ति का अर्जन करना चाहिए और सदाचारपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। सर्वोदय दर्शन मे परहित के लिए अपना त्याग आवश्यक हो जाता है। जैनधर्म ने उसे अणुव्रत की या परिमाणव्रत की सज्ञा दी है। इसमें श्रावक अपनी आवश्यकतानुसार सम्पत्ति का उपभोग करता है और शेष भाग समाज के लिए बाट देता है। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद तथा शिक्षाव्रतो का परिपालन भी आत्मोन्नयन और समाजोत्थान में अभिन्न कारण सिद्ध होता है।

सर्वोदय और विश्व-बधुत्व के स्वप्न को साकार करने मे भगवान महावीर के विचार नि सदेह पूरी तरह सक्षम हैं उसके सिद्धान्त लोकहितकारी और लोक सग्राहक है। समाजवाद और अध्यात्मवाद के प्रस्थापक हैं। उनसे समाज और राष्ट्र केबीच पारस्परिक समन्वय बढ सकता है और मनमुटाव दूर हो सकता है। इसलिये विश्वशाति को प्रस्थापित करने मे अमूल्य कारण बन सकते है। महावीर इस दृष्टि से सही दृष्टार्थ और सर्वोदयतीर्थ के सही प्रणेता थे। मानव मूल्यो को प्रस्थापित करने मे उनकी यह विशिष्ट देन है जो कभी भुलायी नही जा सकती।

इस सदर्भ में यह आवश्यक है कि आधुनिक मानव धर्म को राजनीतिक हथकंडा न बनाकर उसे मानवता को प्रस्थापित करने के साधन का एक केन्द्र बिन्दु माने। मानवता का सही साधक वह है जिसकी समूची साधना समता और मानवता पर आधारित हो और मानवता के कल्याण के लिए उसका मूलभूत उपयोग हो। एतदर्थ खुला मस्तिष्क, विशाल दृष्टिकोण, सर्वधर्म समभाव और सहिष्णुता अपेक्षित है। महावीर के धर्म की मूल आत्मा ऐसे ही पुनीत गुणों से सिचित है और उसकी अहिसा वदनीय तथा विश्वकल्याणकारी है। यही उनका सवोदयतीर्थ है। इस सिद्धान्त को पाले बिना न पर्यावरण विशुद्ध रखा जा सकता है औ न संघर्ष टाला जा सकता है।

पर्यावरण और अध्यात्म

पर्यावरण प्रकृति की विराटता का महनीय प्रांगण है, भौतिक तत्त्वो की समग्रता का सासारिक आधार है और आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करने का महत्वपूर्ण संकेत स्थल है। प्रकृति की सार्वभौमिकता और स्वाभाविकता की परिधि असीमित है, स्वभावत वह विशुद्ध है, पर भौतिकता के चकाचौंध मे फंसकर उसे अशुद्ध कर दिया जाता है। प्रकृति का कोई भी तत्त्व निरर्थक नहीं है। उसकी सार्थकता एक-दूसरे से जुडी हुई है। सारे तत्वो की अस्तित्व-स्वीकृति पर्यावरण का निश्चल संतुलन है और उस अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह खडा कर देना उस सन्तुलन को डगमगा देना है। पर्यावरण का यह असन्तुलन अनगिनत आपत्तियों का आमन्त्रण है जो

हमारी सांसारिकता और वासना से जन्मा है, पनपा है।

सांसारिकता और वासना यद्यपि अनादिकालीन आंचल है पर प्राचीन काल मे वह इतना मैला नहीं हुआ था जितना आज हो गया है। जनसख्या की बेतहाशा वृद्धि ने समस्याओं का अंबार लगा दिया और प्रकृति से छेडछाड कर विप्लव सा खडा कर दिया है। हमारे प्राचीन ऋषियों-महर्षियों की दूरदृष्टि में इस विप्लवता का सभावित रूप उपलक्षित हो गया था, इसलिए उन्होने लोगों को सचेत करने के लिए प्रकृति के अपार गुण गाये, पूजा की, काव्य मे उसे प्रमुख स्थान दिया, ऋतु-वर्णन को महाकाव्य का अन्यतम लक्षण बनाया, रस को काव्य का प्रमुख गुण निर्धारित किया और काव्य की संपूर्ण महत्ता और लाक्षणिकता को प्रकृति के सुरम्य आंगन मे पुष्पाया। दूसरे शब्दों मे प्रकृति की गोद से काव्य का जन्म हुआ और उसी में पल-पुसकर वह विकसित हुआ। पर्यावरण के प्रदूषित होने का भय भी वहा अभिव्यजित है।

जीवन का हर पक्ष काव्य का परिसर है और उसकी धडकन आगम का प्रतितिम्बन है। जिस सस्कृति ने जीवन को जिस रूप से समझा है उसने अपने आगम मे उसे वैसा ही प्रतिरूपित किया है। जैन-आगम श्रमण धारा का परिचायक है। इसलिए उसके आगम में उसी रूप में जीवन को समझने के सूत्र गुम्फित हुए है। इन्ही सूत्रों ने जीवन दर्शन को समझने और पर्यावरण को सन्तुलित बनाये रखने का अमोघ कार्य किया है।

आज की पर्यावरण समस्या व्यक्तिगत न होकर सामूहिक हो गई है। उसने समाज और राष्ट्र की सीमा लाघकर अन्तर्राष्ट्रीय सीमा में प्रवेश कर लिया है। पर्यावरण प्रदूषण से एक ओर प्राकृतिक सम्पदा विनष्ट हो रही है तो दूसरी ओर राग-द्वेषादिक विकारों से ग्रस्त होकर व्यक्ति और राष्ट्र पारस्परिक सघर्ष कर रहे हैं और विनाश के कगार पर खडे हो गये है। वह सघर्ष सामाजिक, आर्थिक, आध्यात्मिक आदि सभी क्षेत्रों में घर कर गया है। इसलिए सभी धार्मिको का ध्यान इस ओर वरवशखिच गया है और उन्होंने अपने-अपने आगमो मे से अपने-अपने ढंग से पर्यावरण सुरक्षा के सिद्धान्त, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आचरण-संहिता का निर्माण, कार्यान्वयन का तरीका, आर्थिक संसाधनो के उपयोग मे सामाजिक दूरदृष्टि, आध्यात्मिक चेतना का जागरण आदि जैसे सिद्धान्तों को प्रकाशित करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया है।

धर्म की समन्वित परिभाषाओं मे जैनधर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक खरा उतरता है। पर्यावरण का सम्बन्ध मानवता और अहिंसा के परिपालन से रहा है। जो जैनधर्म की अनुपम विशेषता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि जैनधर्म मानवता और पर्यावरण का पर्यायार्थक है, प्रकृति का गहरा उपासक है और अहिंसा का सूक्ष्मदर्शी है। ▫▫

कल्याण कल्पतरू स्तोत्र में छन्दोवैदुष्य

—श्री प्रकाशचन्द्र जैन, प्राचार्य

अपनी आत्मा के कल्याण के लिए जैन शास्त्रोक्त आर्यिका पद की मर्यादा को निर्दोष रीति से पालन करने वाली, साध्वियों में अग्रगण्य, आगमों में वर्णित जम्बूद्वीप को प्रत्यक्ष रूप से जन-जन के नेत्र गोचर कराने की प्रेरणा तथा मार्ग दर्शन प्रदान करने वाली, विद्या प्रकाश से निर्मल अन्त करण वाली, सरस्वती के समान अज्ञानान्धकार को दूर करके जगत् को स्वच्छ ज्ञानालोक मे प्रतिष्ठित कराने के लिए सदैव प्रत्यनशील गणिनी, तपस्विनी माता ज्ञानमती जैन समाज की बहुमूल्य निधि है। त्याग और विद्या की आधारभूत इस विदुषी साध्वी को प्राप्त कर जैन समाज का सौभाग्य अत्यन्त प्रकाशित हो रहा है।

ज्ञान-ध्यान एवं तप मे लीन गणिनी माता ज्ञानमति तीन तीर्थकर भगवान् शान्तिनाथ, कुन्थनाथ एव अरहनाथ के जन्म से पवित्र अतिशय क्षेत्र हस्तिनापुर में विराजमान होती हुई भी सम्पूर्ण भारत की भूमि को अपनी चरणरज से पवित्र करती हुई जैन शासन की प्रभावना के लिए सतत विहार शील है। निरन्तर शास्त्र स्वाध्याय, नित्य नवीन मौलिक ग्रन्थो की रचना, प्राचीन दुर्बोध कठिन ग्रन्थों की व्याख्या, आर्यिका पदोचित दैनन्दिन क्रियाओं का परिपालन, दर्शनार्थियों के लिए सदुपदेश प्रवचन ज्ञान श्रावण, सामायिक आदि क्रियाकलापो में लीन माता ज्ञानमति जो अपने जीवन का एक क्षण भी निरर्थक नष्ट नही करती हैं।

जहां वे त्याग और विद्वत्ता की अद्वितीय मूर्ति है, वहा प्रतिभा शालिनी साहित्य लेखिका, रस सिद्ध कवियत्री, प्रवचन कला निपुण भी है। इनकी लेखनी से लिखे गए शतअधिक ग्रन्थ इनकी अप्रतिम प्रतिभा को प्रकाशित करते हुए विद्वत् समाज के द्वारा मुक्त कण्ठ से प्रशंसा किए जा रहे हैं। इनकी रचना शैली, अत्यन्त रुचिकर, हृदय ग्राहिणी प्रसाद गुणयुक्त एवं पाठक मन आल्हादिनी है।

हिन्दी संस्कृत प्राकृत भाषाओं पर इनका पूर्णधिकार घोषित करती हुई इनकी रचनाएं न केवल वर्तमान काल में अपितु सभी देशों और सभी कालों में उपयोगिनी है।

प्रमेय कमलमार्तण्ड, अष्ट सहस्त्री आदि दुर्बोध और नीरस न्याय ग्रन्थ इनकी लेखनी का स्पर्श पाकर सुबोध, ललित और जन-जन के हृदय में रुचि बढ़ाने वाले हो गए है। इनकी न्याय ग्रन्थ व्याख्या शैली पाठकों के मस्तिष्क की ग्रन्थियों को खोलकर विषय वस्तु को बिल्कुल स्पष्ट कर देती हैं।

माता जी के द्वारा संस्कृत भाषा में रचित कल्याण कल्पतरू स्तोत्र इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य, कवित्व तथा इनकी जिनेन्द्र भक्ति का डंका पीट रहा है। इस स्तोत्र ग्रन्थ

के भाव, भाषा शैली सभी अत्यन्त मनो मुग्ध कारी है।

इस ग्रन्थ में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुतियॉ पाठको के हृदय में भक्ति भाव को उत्पन्न करती है। स्तोत्र ग्रन्थों में देवताओं को स्तुतियॉ देवों के महत्व वर्णन के साथ-साथ भक्तों के दैन्य प्रदर्शन को भी प्रदर्शित करती है। साथ-साथ देवों से भक्त को आत्म के सुख याचना भी वर्णित की जाती है। तदनुसार इस स्तोत्र ग्रन्थ में भी पंच कल्याणको के वर्णन द्वारा जिनेन्द्र देवो को प्रभुता, महत्ता, प्रताप आध्यात्मोत्कर्ष तथा उनका जीवन परिचय दिया गया है। कवियित्री के द्वारा आत्म कल्याणार्थ पद-पद पर उनसे मोक्षपद की याचना की गई है। महापुराण व उत्तर पुराणों के आधार पर तीर्थकरो के माता पिता के नाम उनको जन्मनगरी पंच कल्याणको की तिथियॉ उनकी शारीरिक ऊचाई, शरीर का वर्ण, उनका वंश तथा उनकी आयु का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया गया है।

कल्याण कल्पतरू स्तोत्र शान्तरस प्रधान काव्य है। ग्रन्थ का भक्ति-भाव सहित पाठ करने से भक्त के हृदय मे स्थित निर्वेद स्थायी भाव रस पदवी पर पहुच कर हृदय मे शान्त रस का अनुभव कराता है। काव्य के काव्यत्व का परीक्षण उसमे निहित रस द्वारा ही होता है। इस ग्रन्थ में शान्त रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। अत· इस ग्रन्थ के भाव पक्ष का परीक्षण करने से इसकी उत्कृष्ट काव्यता स्वत· सिद्ध हो जाती है।

कल्याण कल्पतरू स्तोत्र में माधुर्य गुण का प्राचुर्य है। शान्त रस में माधुर्य गुण का समुत्कर्ष उसकी अनुभूति को और अधिक तीव्र कर देता है। माधुर्य गुण के साथ-साथ प्रसाद गुण का सद्भाव भी ग्रन्थ को स्पष्ट बोधकता मे सहायक बन रहा है। वैदर्भी वृत्ति ग्रन्थ के काव्यत्व के सौन्दर्य को अधिक बढा रही है।

इस ग्रन्थ में अलकारो का प्रयोग बहुत ही स्वाभाविक रूप से हुआ है। भक्ति के प्रवाह मे बहकर अलंकार स्वत· ही काव्य के अग बन गए हैं। भक्ति भावना में लीन कवियित्री के शब्दार्थ में अलकार स्वत· प्रविष्ट होकर शब्दार्थ की चारूता के हेतु बन गए है।

शब्दार्थालंकारों के प्रयोग से काव्य के भाव स्वत अलंकृत हुए है।

श्री वृषभ जिन स्तोत्र मे प्रयुक्त अनुप्रासालंकार दृष्टव्य है—

पू: सांकेता, पूता जाता, त्वत्प्रसूते:सा।

श्री वृषभ जिन स्तोत्र में ही रूपालकार की छटा देखिए—

हाटक वर्ण, सद्गुणपूर्णम्। सिद्धिबधूस्त्वां, सा स्म वृणीते

इस प्रकार के आलंकरिक उदाहरण ग्रन्थ में सर्वत्र बिखरे हुए है।

कल्याण कल्पतरू स्तोत्र का सर्वाधिक काव्य वैशिष्टय उसकी छन्दों योजना में है। ग्रन्थ मे निहित छन्दों का वैविध्य और प्राचुर्यता कवियित्रि के छन्द· शास्त्र पर पूर्णाधिकार को प्रकट कर रहा है। ग्रन्थ में प्रयुक्त छन्दो की विविधता इस ग्रन्थ को अन्य काव्य ग्रन्थों से बहुत ऊपर उठा देती है। कभी कभी तो छन्दों का वैविध्य इसके छन्दोंग्रन्थ होने की भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है। छन्द शास्त्र पर कवियित्री का इतना अधिक अधिकार है कि जिस अवसर पर जो भी छन्द चाहती

है उसे प्रयुक्त कर देती है। कवियित्री छन्दों के पीछे नहीं भागती अपितु छन्द ही इनके पीछे भागते प्रतीत होते हैं।

कल्याण कल्पतरू स्तोत्र मे चौबीस तीर्थकरों की स्तुतियों में विविध प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया गया है। एक-एक तीर्थंकरो की स्तुति मे भी छन्द वैविघ्य है। श्री वृषभ जिन की स्तुति से ग्रन्थ प्रारम्भ हुआ है। अकेले ऋषभ जिन की स्तुति मे ही 16 छन्दो का प्रयोग हुआ है। एकाक्षरी श्री छन्द– जिसके प्रत्येक चरण में एक-एक गुरु होता है– से स्तुति प्रारम्भ हुई है। यथा– **ऊ, मां। सोऽव्यात्।।1।।**

इस एकाक्षरी श्री छन्द मे अपने मे पूर्ण एक श्लोक निर्माण करना कितना कठिन है। इस तथ्य का अनुमान केवल कविजन ही कर सकते हैं। इसी प्रकार इसी स्तुति में दो अक्षरी स्त्री छन्द-जैनी वाणी। सिद्धिं, दद्यात् का प्रयोग किया गया है। तीसरे पद्य में 3 अक्षरी कैसा छन्द, चौथे श्लोक में तीन अक्षरी मृगी छन्द, पांचवे श्लोक मे तीन अक्षरी नारी छन्द, छठे श्लोक मे 4 अक्षरी कन्या छन्द, सातवे श्लोक में 4 अखरी व्रीडा छन्द, आठवें श्लोक में 4 अक्षरी लासिनी छन्द, नौवे श्लोक में चार अक्षरी सुमुखी छन्द, दसवें श्लोक मे चार अक्षरी सुमुखी छन्द, ग्यरहवे श्लोक मे छह अक्षरी शशि वदना छन्द चौदहवे श्लोक में सात अक्षरी मदलेखा छन्द, पन्द्रहवे, सोलवें, सत्रहवें, अठारहवें, उन्नीसवे तथा बीसवें श्लोक में अनुष्टुप छन्द। जिसके चारो चरणो में पाचवा अक्षर लघु, छठा अक्षर गुरु हो तथा जिसके प्रथम व, तीसरे चरण मे सातवां अक्षर दीर्घ हो तथा दूसरे और चौथे चरण का सातवॉ वर्ण लघु हो– का प्रयोग हुआ है। इक्कीसवें पद्य में उन्नीस अक्षरी शार्दूल विक्रीडित छन्द का प्रयोग किया गया है।

एक ही स्तुति में इस प्रकार छन्दो का वैविघ्य कवियित्री के छन्द शास्त्र के असाधारण वैदुष्य का परिचायक है।

इसी प्रकार अन्य स्तोत्रों मे छन्दों की विभिन्नता, दृष्टिगोचर होती है। श्री अजित जिन स्तोत्र मे पाच अक्षरी प्रीति राती व मन्द्रा छन्द, छह अक्षरी तनुमध्या एवं सावित्री छन्दों के प्रयोग के साथ अनुष्टुप् एवं मालिनी छन्दों का प्रयोग हुआ है।

श्री सम्भव जिन स्तुति मे छह अक्षरी नदी, मुकुल, मासिनी, रमणी, वसुमती, सोमराजी छन्दो के प्रयोग के साथ-साथ सात अक्षरी मदलेखा, अनुष्टुप् एवं दोथक छन्दों का प्रयोग किया गया है।

श्री अभिनन्दन जिन स्तुति में सात अक्षरी कुमार ललिता, मधुमती, हंस माला चूडामणि छन्दों के प्रयोगों के साथ-साथ आठ अक्षरी प्रामाणिक अनुष्टुप् एवं अन्तमें ग्यारह अक्षरी उपजाति छन्द का प्रयोग हुआ है।

श्री सुमति जिन स्तुति में आठ अक्षरी चित्रपदा, विद्युन्माला, माणवक इस स्तम्, नागरक, नाराचिका, समानिका, प्रमाणिका, वितान छन्दों के प्रयोग के साथ-साथ मात्रिक छन्द आर्य जाति जिसके प्रथम एवं तृतीय चरण में बारह-बारह मात्राएं और द्वितीय और चतुर्थ चरण में बीस-बीस मात्राएं हों– का प्रयोग किया गया है। अन्त में आठ अक्षरी अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है।

दृष्टव्य है कि समानाक्षरी छन्दों के सभी भेदों का प्रयोग करके माता ज्ञानमति जी ने अपने छन्द शास्त्राधिकार का उद्घोष किया है। आगे-आगे के स्तोत्रो में बढते हुए अक्षरों वाले छन्दों का प्रयोग हुआ है। जैसा कि श्री पद्म प्रभु जिन स्तोत्र में नौ अक्षरी हलमुखी, भुजग, शिशुभृता, दस अक्षरी शुद्ध विराट एवं पणव छन्दो का प्रयोग किया है। इस स्तोत्र के अन्तिम पाच श्लोक आर्या गोति छन्द के हैं। श्री सुपार्श्व जिन स्तोत्र में दस अक्षरी मयूर सारिणी, रुकूमवती, मत्ता, मनोरमा, मेघ वितान मणिराग, चंपक माला एव त्वरित गति छन्दों के प्रयोग के साथ-साथ अन्त में अनुष्टुप् छन्द प्रयुक्त हुआ है।

श्री चन्द्र प्रभ जिन स्तोत्र में अन्तिम अनुष्टुप् को छोड कर उपस्थिता, एक रूप, इन्द्र वज्रा, उपेन्द्रवज्रा उपजाति, समुखी एव ढोधक सभी ग्यारह अक्षरी छन्द समुदाय का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार श्री पुष्पदन्त जिन स्तोत्र मे भी अन्तिम अनुष्टुप् छन्द को छोड कर सभी शालिनी, वार्तो श्रों, भ्रमार विलसित, स्त्री एव रथोद्धता आदि ग्यारह अक्षर वाले छन्दो के भेदो को अपनाया गया है।

श्री शीतल जिन स्तोत्र में भी ग्यारह अक्षरी स्वागता, पृथ्वी, सुभीद्रका वैतिका मौक्तिमाला एव उपस्थित छन्दो के साथ-साथ बारह अक्षरी चन्द्रवर्त्म, वंशस्थ एव इन्द्रवंशा, छन्दों के साथ-साथ अन्त मे अनुष्टुप् का प्रयोग हुआ है। श्री श्रेयांस जिन स्तुति में अनुष्टुप् के अन्तिम दो पद्यो के अतिरिक्त द्रुत विलम्बित, पुट, तोटक है। वासुपूज्य जिन स्तुति मे भी आर्य गीति के दो तथा अनुष्टुप् के एक छन्द के साथ साथ सभी बारह अक्षरी जलधर माला, नव मालिनी प्रभा छन्दों को अपनाया गया है। श्री विमल जिन स्तोत्र मे आर्यागोति एव अनुष्टुप् के एक-एक पद्य के साथ-बारह अक्षर वाले तामरस, भुजग प्रयात सावित्री, मणि माला एव प्रमिता क्षर, छन्दों का प्रयोग हुआ है।

श्री अनन्त जिन स्तोत्र मे अन्तिम अनुष्टुप् के साथ-साथ बारह अक्षर वाले जलोद्धत गति, प्रियवदा एव ललिता तथा तेरह अक्षर वाले क्षमा, एव प्रहर्षिणो छन्दों का प्रयोग हुआ है।

श्री धर्म जिन स्तुति में सभी छन्द- अति रुचिरा, चचरीकावली, मंजु भाषिणी, मत्तमयूर, अनुष्टुप् और चन्द्रिका तेरह अक्षर वाले है। श्री शान्ति जिन स्तोत्र मे अनुष्टुप् में निबद्ध दो पद्यों को छोडकर सभी पद्य बसन्त तिलका (प्रारम्भिक तीन पद्य) असं वाधा अपराजिता और प्रहरण कलिका चौदह अक्षर वाले हैं। इसी प्रकार कुन्थनाथ जिन स्तुति करते हुए कवियत्री के द्वारा प्रथम पद्य में चौदह अक्षर वाले इन्दु वन्दना छन्द का प्रयोग करने के पश्चात् अन्य पन्द्रह अक्षर वाले शशिकला मालिनी, चन्द्रलेखा एवं प्रभद्रक का प्रयोग किया है। स्तोत्र का पांचवा पद्य अनुष्टुप् में हैं।

अरनाथ जिन स्तोत्र में छठा पद्य अनुष्टुप् का है। शेष पद्यों में पन्द्रह अक्षर वाले स्रक्, मणिकुण निकर, काम क्रीडा एवं एला छन्द का प्रयोग हुआ है। साथ-साथ इस स्तोत्र में सोलह अक्षर वाले ऋषभ गज विलसित और वाणिनी छन्दों का भी काव्य रचना में आश्रय लिया गया है।

मल्लिनाथ जिन स्तोत्र में चौथे पद्य में अनुष्टुप् तथा शेष पद्यों में सत्रह अक्षर वाले शिरवरिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता एवं वंशपत्र पतित छन्दों में श्लोक रचना की गई है।

बीसवें मुनि सुव्रत जिन स्तोत्र में चौथे पद्य में अनुष्टुप्, प्रथम तथा पांचवे श्लोक में सत्रह अक्षर वाले हरिणी तथा तत्कुटक छन्दों के साथ शेष दो पद्यो में अठारह अक्षर वाले कुसुमितलता वेल्लिता एवं सिंह विक्रीडित छन्द प्रयुक्त है। नमि जिन स्तोत्र मे तीसरा पद्य अनुष्टुप् का है। शेष पद्यो में क्रमशः सत्रह अक्षर वाले कोकिला एव अठारह अक्षर वाले हरनर्तक तथा उन्नीस अक्षर वाले मेघ विस्फूर्जिता छन्द का प्रयोग हुआ है। बाईसवे तीर्थकर भगवान् नेमिनाथ की स्तुति उन्नीस अक्षर वाले शार्दूल विक्रीडित तथा बीस अक्षर वाले भत्तेभ-विक्रीडित सुवदना, वुत्त तथा प्रभदानन छन्द में की गई है। इसमें अन्तिम पद्य अनुष्टुप् है।

श्री पार्श्वनाथ जिन स्तोत्र इक्कीस अक्षर वाले स्रग्घरा तथा भत्तविलासिनी बाईस अक्षर वाले प्रभद्रक एवं तेईस अक्षर वाले अश्व ललित एवं भत्ता क्रीडा छन्दों में रचा गया है। अन्तिम पद्य अनुष्टुप का है।

अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर की स्तुति में तेईस अक्षरों वाले मयूर गीत, चौबीस अक्षरों वाले तन्वी एवं पच्चीस अक्षरों वाले क्रोचपदा छन्दों में की गई हैं इसमें तन्वी छन्दो के तीन पद्य है, तथा अन्तिम दो पद्य अनुष्टुप् के है। कितना आश्चर्य कारी छन्दो का विचित्रालय है यह कल्याण कल्पतरू स्तोत्र काव्य? आर्यिका रत्न माता ज्ञानमतीजी ने इस स्तोत्र की रचना मे कितना ध्यान तथा श्रम लगाया है।

इसके अतिरिक्त इस ग्रनथ मे चौबीस तीर्थकरों की अलग-अलग स्तुति करने के बाद अन्त मे चतुर्विंशति जिन स्तोत्र, वश स्तुति, वर्ण स्तुति, निर्वाण स्तुति व पच बालयति तीर्थकर स्तुतियां भी रची गई है। इन चारों प्रकरणो मे भी छन्द वैविध्य कवियित्री के छन्दों वैदुष्य का अद्भुत नमूना है।

चतुर्विंशति जिन स्तुति में अनुष्टुप् वंश स्तुति के दो पद्य सोलह अक्षरी अपवाह छन्द के, दो पद्य छब्बीस अक्षरों भुंजग विजृम्भित छन्द के हैं। वर्ण स्तुति तथा निर्वाण स्तुतियो में सत्ताईस अक्षरी चण्डवृष्टि प्रयात दण्डक, प्रचतिक दण्डक छन्दों का प्रयोग हुआ है। बालयति स्तुति में तीस अक्षर वाले अर्णो दण्डक के प्रयोग के साथ-साथ अनुष्टुप् छन्द को भी लिया गया है।

उक्त स्तुतियों में प्रदर्शित छन्दो के वैविध्य को जान कर पाठक स्वतः कवियित्री के छन्दों के अगाध ज्ञान को समझ सकते हैं। पूरे ग्रन्थ में 140 छन्दों का प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें स्तुतियों में प्रयुक्त छन्दो में लक्षण भी साथ-साथ दिए गए हैं। छन्द शास्त्र के जिज्ञासु पाठकों के लिए यह रचना वस्तुतः कल्प वृक्ष है। एक ओर तो जिनेन्द्र गुण गायन दूसरी ओर छन्द शास्त्र का विस्तृत ज्ञान इस ग्रन्थ में पद पद पर सुलभ है।

भगवद् भक्तों की भक्ति भावना की पूर्ति के साथ-साथ यह ग्रन्थ छन्दों के ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

ग्रन्थ के अन्त में छन्द विज्ञान प्रकरण में छन्दों का विस्तार के साथ परिचय कराया गया है।

छन्द विज्ञान की भूमिका में सर्वप्रथम महापुराण के वाड्मय के लक्षण को उद्धृत किया गया है–

पद विद्या मधिच्छन्दो विचितिं वागलंकृतिम्।
त्रयो समुदितामेतां तद्विदो वाडमयं विदुः।।
तदा स्वायं भुवं नाम पद शास्त्रमभून्महत्।
यत्तत्परशताध्यार्य रति गम्भीर मब्धिवत्।।
छन्दो विचितिमप्येवं नाना ध्यायै रूपादिशत्।
उक्तात्युक्तादि भेदांश्च षडविंशति मदोदृशत्।।
प्रस्तारं नष्ट मुदिद्रष्टमेक द्वित्रिलघु क्रियाम्।
संख्या मथाध्वयाम ब्याहारगिरांपतिः।।

अर्थात् वाडमय के जानने वाले गणधरादि देव व्याकरण शास्त्र, छन्द शास्त्र और अलंकार शास्त्र इन तीनो को वाडमय कहते है। उस समय भगवान् ऋषभदेव का बनाया हुआ एक बडा भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध हुआ। उसमें सौ से अधिक अध्याय थे और वह समुद्र के समान अत्यन्त गम्भीर था। इस प्रकार उन्होंने अनेक अध्यायो में छन्द शास्त्र का उपदेश दिया था। भगवान् प्रस्तार नष्ट, उद्दिृष्ट एक द्विवत्रि लघु किया, संख्या और अधायोग छन्द शास्त्र के इन छ प्रत्ययों का भी निरूपण किया गया था।

जैनाचार्यो ने यद्यपि छन्द शास्त्र पर पर्याप्त ग्रन्थ लिखे परन्तु वर्तमान में कोई लिखित ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उस कमी को पूरा करने के लिए माताजी ने इस स्तोत्र ग्रन्थ में वृत्तरत्नाकारादि ग्रन्थों का आधार ग्रहण कर इस कल्याण कल्पतरू स्तोत्र की रचना की है।

इस छन्द विज्ञान प्रकरण में उन्होने छन्द शास्त्र के आवश्यक नियमो पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

आठ गणों का सूत्र, गुरु लघु आदि का लक्षण, क्रम संज्ञा यति, छन्द शास्त्र के पारिभाषिक शब्द आदि को अत्यन्त सरल शब्दो मे समझाया गया है। काव्य रचना के नियम, वर्णो का शुभाशुभ भाव, गणो के देवता और उनका फल, पदारम्य में त्याज्य वर्ण, काव्यके प्रारम्भ में स्वर वर्णो के प्रयोग का फल, काव्य के आदि में व्यंजनों के प्रयोग का फल गणों के प्रयोग और उनका फलादेश आदि विषय जो कि बडे-बडे विद्वान भी नहीं जानते हैं, पर माताजी ने बहुत सुन्दर ढंग से परिचयात्मक प्रकाश डाला है।

छन्दो ने विज्ञान प्रकरण के ही अन्तर्गत काव्य के भेद, उनके रचना करने की विधि, काव्यारम्भ का नियम, छन्द के भेद, वर्णिक छन्दों के सम विषम आदि के भेद तथा उनके लक्षण, दण्डक छन्दों के भेद, समवृत्त छन्दों के भेद आदि छन्द शास्त्र के ज्ञातव्य विषयों को भली भॉति समझाया गया है। समवृत्त छन्दों के नामों को गणना करने के बाद दण्डक छन्दों का उनके भेद एवं लक्षण के साथ विवेचन

किया गया है।

अर्थ संमवर्ण छन्द · जिनमे प्रथम और तृतीय चरण एक समान तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण एक समान हो– के अन्तर्गत कतिपय अर्ध समवर्ण छन्दों के नाम लक्षण और उदारहण दिए गए हैं।

विषमवर्ण छन्द प्रकरण मे पदचतुरूध्र्व, आपीड, कलका, लवली, अमृत धारा, उद्गता, सौरभक, ललित और प्रवर्दमान इन नौ विषय छन्दों के लक्षण सोदाहरण दर्शाए गए है।

इसके आगे मात्रिक छन्दो का विवेचन किया गया है। मात्रा छन्द के पांच गुणो का ज्ञान कराने के पश्चात् आर्या छन्द का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध की दृष्टि से विस्तृत लक्षण और उदाहरण दिया गया है। अन्य मात्रिक छन्द गीति, उपगीति, उद्गीति, आर्य गोति, वैतालीय, औपच्छंदसिक, वक्त्र अनुष्टुप पथ्या वक्म, युग विपुला, अचलधृति चित्रा, उपचित्रा, शिक्षा अतिरुचिरा छन्दों के उदाहरण सहित लक्षण दिए गए है।

इस छन्द विज्ञान प्रकरण के अन्त मे जैन दर्शन के महत्वपूर्ण प्राकृत छन्द गाथा का सोदाहरण लक्षण दिया गया है। साथ-साथ गाथा के सातो भेदों-गाहू गाथा, विगाथा, उद् गाथा, गाहिनी, सिंहिनी तथा स्कन्द का भी परिचय दिया गया है।

उक्त विवेचन से यह तथ्य स्वय झलक कर सामने आता है कि ग्रन्थ रचयित्री को छन्द शास्त्र का जितना गहन ज्ञान है उतना बहुत कम विद्वानों को होगा।

कल्याण कल्प तरू स्तोत्र की रचना से जैन समाज का एक बहुत बडा उपकार हुआ है। जैन समाज के पास स्तोत्र ग्रन्थ तो प्रचुत्तर संख्या में उपलब्ध है परन्तु छन्द शास्त्र का ऐसा कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है जिसमें स्तोत्र की रचना के बाद जैन समाज के छन्द शास्त्र का ग्रन्थाभाव समाप्त हो गया है। इस कथन में जरा सी भी अतिशयोक्ति नही है कि यह ऐसी अनमोल धरोहर है कि यह वृत्तरत्नाकरादि छन्द शास्त्र के ग्रन्थों को बहुत पीछे छोड देती है। वृत्त रत्नाकरादि में वह सुबोधता कहां जो इस कल्याण कल्पतरू स्तोत्र में है। छन्द शास्त्र का सम्पूर्ण परिचय प्राप्त करने वालों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। केवल जैनो के लिए ही नहीं प्रत्युत जैनेतर छन्द शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए भी यह ग्रन्थ छन्द शास्त्र विषयकसमग्र ज्ञातव्य सामग्री से परिपूर्ण है।

अन्त में आर्यिका रत्न माता ज्ञानमती जी के प्रति न केवल अपनी ओर से प्रत्युत सम्पूर्ण जैन समाज की ओर से कृतज्ञता विज्ञापित करता हूँ जो कि अहर्निश ज्ञानाराधन के द्वारा विद्यादेवी की सेवा करने के साथ-साथ तपस्विनी साध्वी के रूपमें जन-जन को सन्मार्ग की प्रेरणा प्रदान कर रही है।

यद्यपि ग्रन्थ की छन्द सामग्री बहुत सुरस्य एवं छन्द शास्त्र का सर्वाडग ज्ञान प्रदान करने वाली है। तथापि ध्यातव्य है कि ग्रन्थ के छन्द वैभव को देख कर पाठक यह न भूल जाए कि यह मूलत· स्तोत्र ग्रन्थ है। जिनेन्द्र देवों की भक्ति तथा आत्म-तन्मयता ग्रन्थ रचना का प्रमुख लक्ष्य है। □□

पर्यावरण संरक्षण में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की दृष्टि

–प्राचार्य निहाल चंद जैन, बीना

आज संपूर्ण विश्व मे चेतावनी, चिन्तन और चेतना का दौर चल रहा है। पृथ्वी की सुरक्षा के लिए चेतावनी का विषय है– पर्यावरण, चिन्तन का विषय है - पर्यावरण, प्रदूषण, जबकि चेतना की चुनौती है– पर्यावरण-सरक्षण।

जीवन के सन्दर्भ में पर्यावरण प्रदूषण- दो घटको से जुडा हुआ है– प्रथम-बाह्य-घटक जिसके अन्तर्गत पृथ्वी, जल, वायु, ध्वनि, ताप एव आण्विक रेडियोधर्मी तत्त्वो द्वारा उत्पन्न प्रदूषण की बात आती है और दूसरा आन्तरिक घटक है- जो व्यक्ति की शुभाशुभ भावनाओ तथा उसके मानसिक द्वन्द व तनाव से सबद्ध है। जीवन का आन्तरिक स्वरूप इससे प्रभावित/आन्दोलित रहता है।

कमठ के जीव सम्बरासुर और मरुभूति के जीव पार्श्वनाथ के विगत दस भवों की सघर्ष कथा का पर्यावरण के सन्दर्भ मे अध्ययन करे, तो हमें एक नयी दृष्टि प्राप्त होती है। समबरासुर-अहकार, क्रोध व बैर की ज्वाला से दग्ध है। उसकी आन्तरिक पर्यावरणीय चेतना, बैर के कालुष्य से विकृत है। उसके अनेक जन्मों की अनंतानुबधी कषाये – कभी कुक्कुट सर्प और कभी भयकर अजगर के रूप में उद्भूत होती हैं। प्रतिशोध से भरे उसके रौद्र-परिणाम-प्रत्येक भव मे मरुभूति के जीवन का प्राणान्त करते है। इसके विपरीत मरुभूति का जीव साधना व संयम की मंजिलें उत्तरोत्तर प्राप्त करता हुआ भीतर के पर्यावरण को विशुद्ध बनाता है। वह कभी हाथी की पर्याय में सल्लेखना व्रत धारण कर सहस्रार स्वर्ग में देव पर्याय प्राप्त करता है, अगले भव मे मुनिराज पद से कर्म-निर्जरा कर अच्युत स्वर्ग मे जाता है, कभी सुभद्र ग्रैवेयक में अहमिन्द्र इन्द्र बनकर भावी तीर्थकर के रूप मे वाराणसी नगरी मे महाराजा अश्वसेन के घर पार्श्वकुमार के रूप मे जन्म लेता है।

एक ओर दुष्ट कमठ का जीव अपने परिणामो के कारण आन्तरिक पर्यावरण को विक्षुब्ध कर रहा है और दूसरी ओर मरुभूति की आत्मा सम्यक्त्व की राह चलकर अपने आन्तरिक पर्यावरण को निर्मल व प्रदूषण मुक्त बना रही है। दसवे भव में सम्बर असुर के घोर उपसर्ग के सामने भ0 पार्श्वनाथ की असीम सहन-शक्ति मानो उस आसुरी शक्ति पर, धवल पर्यावरणीय-चेतना की एक अक्षय विजय है।

पार्श्वकुमार के नाना महीपाल-तापसी वेश धारण कर अपने सात सौ शिष्यों के साथ पचाग्नि तप कर रहे हैं। वे जगल की लकडियों को काट कर आग प्रज्वलित रखते हैं। आग से उत्पन्न धुंआ, रात-दिन, वायु-प्रदुषण का मुख्य कारण बनता

है। पार्श्वकुमार की दृष्टि पर्यावरण संरक्षण की होने से उन्होंने महीपाल तापस से व्यर्थ ढेर सारी आग न जलाने के लिए कहा। इससे कमठ का जीव तापस विगत भवों के प्रतिशोध से तमतमा कर आग-बबूला हो जाता हैं तथा काष्ठ के मोटे मोटे लट्ठो को विदीर्ण करने के लिए उठाता है। पार्श्वकुमार ने अपने अवधिज्ञान से जाना कि जिन काष्ठ लट्ठों को, वह चीरने जा रहे है। उसमें युगल सर्प हैं। दयार्द्र 'पार्श्व' कुल्हाडी से उन काष्ठों के काटने से मना करते हैं लेकिन वह तापस उल्टा कुपित होकर उनका विदारण कर देता है, जिससे उसमें स्थित युगल सर्पों के दो टुकडे हो जाते हैं। करुणा भाव से पार्श्व कुमार उन्हें कल्याणकारी महामत्र णमोकार सुनाकर संबोधते हैं, जिसके प्रभाव से वही युगल, धरणेन्द्र व पद्मावती होते हैं, जो आगे चलकर भ0 पार्श्वनाथ की घोर-उपसर्ग से रक्षा करते है। इस घटना से दो तथ्य उजागर होते हैं– (1) बालक पार्श्व की दृष्टि में अप्रयोजनीय लकडी जलाना पर्यावरण संरक्षण के प्रतिकूल है। (2) निष्काम भाव से अहिंसा की भावना भाने से बाह्य व आभ्यन्तर पर्यावरण स्वच्छ बनता है।

दुष्ट सम्बर ने सात दिन तक भीषण उपसर्ग किये। वे सभी पर्यावरण प्रदूषण के ही रूप थे। अपार जल राशि, अग्नि की प्रचण्डता, तेज वायु के झझावात, मेघ गर्जन, तडित की भंयकर कर्कश ध्वनियॉ, पर्वत खण्डों का प्रबल आवेग एवं नर-कंकालों सहित क्रूर हिसक नृत्यादि- इन प्रदूषणों से रक्षा करने के लिए धरणेन्द्र सात फणों वाले नाग के रूप में प्रगट हुआ। उसने विशाल फण-मण्डप तैयार कर ध्यानस्थ भ0 पार्श्वनाथ को चारो ओर से ढॅक लिया। यह पार्श्व प्रभु की पर्यावरण-संरक्षण की विश्वकल्याण कामना से सम्पूरित भावना का प्रतिफल था।

धरणेन्द्र नाग के सात फण-सात प्रकार के प्रदूषणों से रक्षा करने के प्रतीक हैं। सात दिन तक यह प्रदूषण ताण्डव जारी रहा। जब इन्द्र ने रौद्ररूप जल की उत्तंग लहरे देखीं और सम्पूर्ण वन खण्ड को समुद्र में बदलते देखा तब उन्होंने कमठासुर पर 'महायुध व्रज' घुमाकर फेंका जिससे वह असुर भयाक्रान्त हो भागा और फिर कहीं त्राण न पाकर जिनेन्द्र पार्श्व की शरण में आकर नत शीस हुआ। सम्बरासुर की पराजय, पर्यावरण प्रदूषण की सारहीनता की द्योतक है। पार्श्व प्रभु की उपसर्गो पर विजय पर्यावरण-संरक्षण की निर्मल दृष्टि का प्रतीक है। हिसा-अहिंसा के मुकाबले हार जाती है। क्षुद्र सम्बर का हृदय परिवर्तन पर्यावरण की विजय है।

भ0 पार्श्वनाथ का धर्म पूर्ण रूपेण व्यवहार था, जो चातुर्याम 'संवरवाद' के नाम से विश्रुत हुआ। भ0 पार्श्वनाथ ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के साथ अहिंसा का सामंजस्य स्थापित किया। पार्श्वनाथ ने अहिंसा को योगी जनों की चिन्तन से बाहर समाज की ओर उन्मुख कर उसका सामाजीकरण किया और उससे व्यवहारिक स्वरूप प्रदान किया। भ0 पार्श्वनाथ का चातुर्याम के अन्तर्गत सर्व

प्राणातिपात विरति, सर्वमृशावाद विरति, सर्व अदत्तादान विरति एवं सर्ववहिरादान विरति है। भ0 महावीर के 'पंच महाव्रत' चातुर्याम का ही विस्तारीकरण है जिसमें स्त्री को चेतन परिग्रह के अन्तर्गत समावेशित कर स्त्री के प्रति भोग-दृष्टि का त्याग कर ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह में ही समालीन कर लिया गया था।

पार्श्वनाथ अहिंसा के प्रबल सम्वाहक बने। अहिंसा पर्यावरण सरक्षण का मूल आधार है। आज मानव हथियारो की अपेक्षा रेडियोधर्मी विनाशक धूल से ज्यादा घबराया हुआ है। अहिसा-प्रकृति और पर्यावरण को सरक्षित करने का पहला पाठ पढाती है। भ पार्श्वनाथ ने अहिंसा का समर्थ उपदेश देकर अनार्य व आर्य जातियों को अहिंसा धर्म मे सस्कारित किया।

भ0 पार्श्वनाथ की तपस्या का मूलस्थान 'अश्व-वन' था। वस्तुत वनों पर आधारित सहजीवी जीवन पद्धति मे अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा है। जिससे भोजन, पेय, औषधि रसायन आदि की व्यवस्था सम्भव है। प्राकृतिक वनो से पर्यावरण पूर्ण 'सन्तुलित' रहता है। कल्पवृक्ष की अवधारणा वन सस्कृति का श्रेष्ठ अवदान का प्रतीक है। वृक्षो को उस समय 'कल्पवृक्ष' कहा जाता रहा जब वे जीवन की सारी आवश्यकताएँ इतनी अल्प व सीमित हुआ करती थीं कि वे वनो व वृक्षों से पूरी हो जाया करतीं थी। भ0 पार्श्वनाथ वन सस्कृति से जुडे 'महायोगी' अनुत्तर पुरुष थे। उनका दिगम्बरत्व प्रकृति व पर्यावरण से तादात्म्य स्थापित करने के लिए था। वे रमणीय थे। यही कारण है कि वन बहुल प्रान्त बिहार व उडीसा तथा बंगाल में फैले लाखो सराक बगाल के मेदिनीपुर जिले के सदगोप व उडीसा के रगिया आदिवासी इनके परमभक्त है। निश्चित ही पार्श्वनाथ के उपदेशों का इनके जीवन पर अमिट प्रभाव पडा जिससे ये जातियॉ परम्परागत आज भी इन्हे अपना 'कुल देवता' मानती है। तय है कि वन पर्यावरण के सन्निकट रहने वाले इन आदिवासियो को भगवान पार्श्वनाथ की पर्यावरण संरक्षण दृष्टि अत्यत प्रभावक व रुचिकर लगी होगी।

पार्श्वनाथ के शरीर का वर्ण हरित था। हरित वर्ण वृक्षो की हरियाली व वनों की हरीतिमा का प्रतीक है। अत हम कह सकते है कि पार्श्वनाथ का परमौदारिक शरीर पर्यावरण संरक्षण का जीवन्त उदाहरण है।

भ0 पार्श्वनाथ प्रथम पारणा के दिन आहार हेतु गुल्मखेट नगर आये थे जहॉ धन्य नामक राजा ने नवधा भक्ति पूर्वक परमान्न आहार दिया। तत्पश्चात् देवों ने पंचाश्चर्य किये। उन सभी पंचाश्चर्यों का सम्बन्ध पर्यावरण व उसके संरक्षण से है। ये है – शीतल सुगंधित पवन का बहना, सुरभित जल वृष्टि, देवकृत पुष्प वर्षा, देव द्रुन्दभि (कर्ण प्रिय सगीतिक ध्वनियॉ) एव जय घोष।

भ0 पार्श्वनाथ की निर्वाण भूमि- श्री सम्मेद शिखर है जो बिहार प्रान्त मे 'पारसनाथ हिल' के नाम से जानी जाती है। यह जैन तीर्थों की सबसे पवित्र भूमि है। यहाँ से 20 तीर्थकर तपस्या कर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। यह पर्वत सघन वन से आच्छादित है और पर्यावरण संरक्षण का जीवन्त स्थान है। 'पारसनाथ टोक'

सबसे ऊँची है जिस पर खडे होकर चारों ओर का मनोहारी प्राकृतिक दृश्य ऑखोंको शीतलता स्निग्धता प्रदान करता है। यहाँ का सम्पर्णू पर्यावरण शुद्ध प्राण वायु का फैला हुआ अपार भण्डार है। यही प्राण वायु यहॉ की वायु में अधिकतम प्रतिशत के रूप में विद्यमान है। जो पैदल वन्दनार्थी भक्त गणों मे अपार शक्ति का संचार करती है और 27 कि मी की यात्रा में थकान महसूस नहीं होने देती। एक ओर भक्त की श्रद्धा काम करती है तो बाह्य घटक के रूप में यह 'प्राणवायु' सासों में घुलकर ऊर्जा का स्रोत बनती है। पूरा मधुबन (सम्मेद शिखर) पार्श्व प्रभु की पर्यावरणीय चेतना का अमर सन्देश वाहक बना हुआ है।

पर्यावरण संरक्षण में पार्श्वनाथ पर विहंगम दृष्टि भगवज्जिनसेनाचार्य ने अपने अमर महाकाव्य 'पार्श्वभ्युदय' के माध्यम से डाली है। आचार्य जिनसेन ने 'सम्बर' के माध्यम से मेघ के रूपो तथा उसके प्रतिफलों को अधिक विस्तार से वर्णित किया था अपने अध्यात्म रूप निर्मल भावों की साक्ष्य से यह सिद्ध किया कि पार्श्वप्रभु याचक नहीं परिपूर्णत· समर्थ हैं। अधम कमठ का जीव सम्बर मेघो से उनके चित्त में क्षोभ उत्पन्न करना चाहता है और सोचता है कि पार्श्व का धैर्य डगमगाने पर किसी विचित्र उपाय से उन्हें मार डालूँगा, लेकिन वह उन की आत्म-शक्ति से अपरिचित है। जिनसेन की दृष्टि में सम्बर देव-काम, क्रोध एव मद से युक्त राग-द्वेष के द्वन्दो में झूल रहा है, वही वीतरागी पार्श्व प्रभु निश्छल समाधि की ओर बढते हुए आत्म-वैभव को पाने वाले है। इस प्रकार पार्श्वनाथ का बाहरी पर्यावरण जिसमें वे ध्यानस्थ हैं जितना स्वच्छ व धवल है उनका भीतरी पर्यावरण भी सारे प्रदूषणो से रहित होकर पूर्ण स्वच्छ व धवल है उनका भीतरी पर्यावरण भी सारे प्रदूषणो से रहित होकर पूर्ण स्वच्छ बन चुका है। न वहॉ कामना का ज्वार है और नही काम है। उस निरजन पर्यावरण मे अक्षय शान्ति का स्रोत खुल गये है। सही है जिसका भीतरी पर्यावरण-संरक्षित बन गया, बाहर के पर्यावरण-प्रदूषण उनका भला क्या बिगाड सकते हैं? आत्म तत्व की अजेय शक्ति के सामने बाहर की सारी विद्रूप शक्तियॉ लडखडा जातीं हैं।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की वाणी में करुणा, मधुरता और शान्ति की त्रिवेणी समाहित है। करुणा में अहिंसा, मधुरता में प्रेम और शान्ति में समता व सत्य झॉकता है। उन्होंने अहिसा की अजेय शक्ति के सहारे अज्ञान पूर्वक कष्ट उठाते तपाग्नि तपते तापसी परम्परा का निर्मूलन किया। विवेक व ज्ञान युक्त तपश्चरण की राह दिशा प्रशस्त की। तप के सही रूप को बताया, जो सांसारिक सुख के लिए नहीं वरन् भीतरी स्वरूप को उज्जवल बनाने के लिए हुआ करता है। तप से कर्म निर्जरा होती है और व्यक्ति का भीतरी प्रदूषण समान होकर नवोन्मेष साधना व संयम की राह प्रशस्त होती है।

संक्षेप में पर्यावरण संरक्षण की दिशा में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पारगामी दृष्टि उल्लेखनीय है। ध्यान रहे उन्होंने जीवन और जगत को, प्रकृति के साथ चलाने के लिए कहा। प्रकृति पर्यावरण के संरक्षण के प्रति समर्पित है। □□

ग्रन्थान्तरों में नियमसार की गाथाएं

–डा ऋषभचन्द्र जैन "फौजदार"

"नियमसार" 187 गाथाओं में निबद्ध आचार्य कुन्दकुन्द की प्रमुख रचना है। इसकी भाषा जैन शौरसेनी प्राकृत है। इसमे श्रमण की आचार सहिता वर्णित है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओ मे कुन्दकुन्द को समान आदर प्राप्त है। दोनों परम्परा के ग्रन्थो मे कुन्दकुन्द की गाथाएँ पर्याप्त मात्रा मे पायी जाती है। सभव है ऐसी गाथाएँ कुन्दकुन्द से भी प्राचीन हो, जिन्हे कुन्दकुन्द सहित अनेक ग्रन्थकारो ने अपने ग्रन्थों का अंग बनाया हो।

नियमसार की कतिपय गाथाएँ स्वयं कुन्दकुन्द के प्रवचनसार, समयसार, पचास्तिकाय एवं भावपाहुड, मे प्राप्त होती है। जैन शौरसेनी के ही मूलाचार, भगवती आराधना, गोम्मटसार जीवकाण्ड प्रभृति ग्रन्थो मे भी पायी जाती है। अर्धमागधी के आवश्यक निर्युक्ति, महापच्चकखाण प्रकीर्णक, आउरपच्चखाणप्रकीण्रक (1), आउरपच्चक्खाण प्रकीर्णक (2) वीरभद्र कृत आउरपच्चक्खाण प्रकीर्णक, चदावेज्झय प्रकीर्णक, तित्थेगाली प्रकीण्रक, आराधना पयरण, आराहणा पाडया (1) आराहणापडाया (2) एव मरणविभक्ति आदि ग्रन्थो मे नियमसार की गाथाए उपलब्ध होती हैं। इन ग्रन्थो में प्राप्त गाथाओ में केवल भाषाई परिवर्तन दृष्टिगोचर होते है। नियमसार की सर्वाधिक 22 गाथाए मूलाचार मे मिलती है। नियमसार की ऐसी गाथाएँ यहॉ प्रस्तुत है–

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होई णिव्वाणं।। नियमसार-2

नियमसार की उक्त गाथा संख्या-2 की तुलना मूलाचार की निम्न गाथा से कीजिये–

मग्गो मग्गफलं तिय दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं।। मूलाचार-5/5

यहॉ उक्त गाथा का पूर्वार्ध यथावत् है, किन्तु उत्तरार्ध मे नियमसार के मग्गो मोक्खउवायो के स्थान पर मूलाचार मे "मग्गो खलु सम्मत्त" कहा गया है।

अइथूलथूल थूलं थूलंसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं।। नियम--21

यह गाथा गोम्मटसार जीवकाण्ड मे शब्द परिवर्तन के साथ उपलब्ध होती है, किन्तु उसमें भाव साम्य पूर्ण रूप से पाया जाता है। वह गाथा मूलरूप में इस प्रकार है–

बादर बादर बादरसुहमं च सुहमथूलं च।
सुहमं च सुहमसुहमं धरादियं होदि छब्भेयं।। गोम्मटसार जीवकाण्ड—603
समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होई तिवियप्पं।
तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु।। नियमसार—31

इस गाथा की तुलना गोम्मटसार जीवकाण्ड की निम्न गाथा से की जा सकती है। यहाँ उत्तरार्ध यथावत् है तथा भावसाम्य भी है। यथा—

ववहारो पुण तिविहो तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु।
तीदो संखैज्जावलि हद सिद्धाणं पमाणं तु।। गोम्मटसार जीव—37

भावसाम्य की दृष्टि से उक्त गाथा की तुलना पंचास्तिकाय की निम्न गाथा से कीजिए—

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।
मुत्तं पोग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणों तेसु।। पंचास्तिकाय—97
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।। नियमसार-46

यह गाथा कुन्दकुन्द के प्रवचनसार-2/80, समयसार-49। पचास्तिकाया-127, भावपाहुड-64 मे यथावत् रूप से उपलब्ध होती है।

गामे व णगरे वारण्णे वा पेच्छिऊण परवत्थुं।
जो मुचदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव।। नियम-58

इसकी तुलना मूलाचार की निम्न गाथा से की जा सकती है

गामे णगरे रणणे थूलं सचित्त बहु सपडिवक्खं।
तिविहणे वजिज्दव्वं अदिण्णगहणं च तण्णिच्चं।। मूला 5/94
पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छड पुरदो समणो इरिया समिदि हवे तस्स।। नियम-61

इस गाथा की तुलना मूलाचार की निम्न गाथा से कीजिए—

पासुयमग्गेण दिवा जुगंतरप्पेहिण सकज्जेण।
जंतुण परिहरंतेणिरिया समिदी हवे गमणं।। मूला-1/11
पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
वज्जित्ता सपरहिंद भासासमिदी वदंतस्स।। नियमसार-62

इसकी तुलना में मूलाचार की निम्न गाथा देखिए—

पेसुण्णहासकक्कसपर णिंदाप्पप्पसंस विकहादी।
वज्जित्ता सपरहिंय भासासमिदी हवे कहणं।। मूलाचार-1/12
पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवेतस्स।। नियम-65

उक्त गाथा की तुलना मूलाचार की निम्न गाथा से कीजिए—

एगंते अच्चिते दूरे गूढे विसालमविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी।। मूलाचार-1/15

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तंमणोगुत्ती।

अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती।। नियमसार-69

नियमसार की उक्त गाथा मूलाचार और भगवती आराधना में यथावत् प्राप्त होती है। यहाँ दोनों मूलरूप मे प्रस्तुत है–

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती।

अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती।। मूलाचार-5/135

जा रागदिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्तिं।

अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होई वचिगुत्ती।। भगवती आराधना-1181

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।

हिंसाइणियत्ती वासरीरगुत्तिति णिदिट्ठा।। *नियमसार-70*

यह गाथा मूलाचार एव भगवती आराधना मे किंचित् शब्द परिवर्तन के साथ उपलब्ध है। यथा–

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।

हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ति हवदि एसा।। मूलाचार-5/136

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।

हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ति हवदि दिट्ठा।। भगवती आराधना-1182, पृ 597

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिं उवट्ठिदो।

आलंवणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे।। नियमसार-99

नियमसार की उक्त गाथा कुन्दकुन्द के ही भावपाहुड में यथावत् रूप में उपलब्ध है। यथा–

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्मत्तिमुवट्ठिदो।

आलंवणं च मे आदा अवसेसाइं बोसरे।। भावपाहुड-57

प्रवचनसार मे नियमसार की गाथाका पूर्वार्ध ज्यो की त्यो मौजूद है *यथा*–

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।

परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि।। प्रवचनसार-2/108

मूलाचार मे यह गाथा यथावत् प्राप्त है। यथा–

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्मत्तिमुवट्ठिदो।

आलंवणंव मे आदा अवसेसाइं वोसरे।। मूलाचार-2/9

आउरपच्चक्खाण तथा महापच्चक्खाण में उक्त गाथा किंचित् भाषागत परिवर्तन के साथ उपलब्ध है। *यथा*–

ममत्तं परिवज्जमि निम्मयत्ते उवट्ठिओ

आलबणं च में आया अवसेसं च वोसिरे।। वीरभद्र, आउरपच्चक्खाण

महापच्चक्खाण में भी देखिए –

ममत्तं परिजाणिमि निम्मत्ते उवट्ठिओ।

आलंवणं च में आया अवसेसं च वोसिरे।। महापच्चक्खाण-7/10/1450

आदा खु मज्झ णाणे आदा में दंसणेचरित्ते य।

आदा पच्चकखाणे आदा में संवरे जोगे।। नियमसार-100

उक्त गाथा भावपाहुड मे क्रमांक 58 पर यथावत् रूप से पायी जाती है। समयसार में भी उसी रूप मे उपलब्ध है किन्तु यहाँ विभक्ति-प्रयोग में कुछ परिवर्तन हुआ है। यथा–

आदा खु मज्झ णाणं आदा दंसणं चरित्तं च।

आदा पच्चक्खाणं आदा में संवरो जोगो।। समयसार-277 (अमृतचन्द्र)

समयसार-16, 295 (जयसेन)

समयसार में जयसेन के पाठ मे उक्त गाथा दो बार आई है। मूलाचार में भी देखिए–

आदा हु मज्झ णाणे आदा में दंसणे च्चारित्तेय।

आदा पच्चक्खाणे आदा में संवरे जोए।। मूलाचार-2/10 (46)

किंचित् भाषागत परिवर्तन के साथ उक्त गाथा आउरपच्चक्खाण एव महापच्चक्खाण मे भी प्राप्त होती है यथा–

आया हु महं नाणे आया में दंसणे चरित्तेय।।

आया पच्चक्खाणे आया में संवरे जोगे।।

वीरभद्र/आउरपच्चक्खाण 16/25/2837

महापच्चक्खाण में "सवरे" के स्थान पर "सजमे" पाठ आया है। यथा–

आया मज्झं नाणे आया मे दंसणे चरित्ते य।

आया पच्चक्खाणे आया में संजमे जोगे।। महापच्क्खाण-7/11/1451

मरणविभक्ति मे भी देखिए–

आया पच्चक्खाणे आया में संजमे तवे जोगे।

जिणवयणविहिविलग्गो अवसेसविहिं तु दंसे हं।। मरणविभक्ति -5/216/965

यहा उक्त गाथा का उत्तरार्ध प्राय पुर्वार्ध से मिलता है।

एगो मरदि य जीवो एगो व जोवदि सयं।

एगस्स जादिमरणं एगो सिज्जझदि णीरयो।। नियमसार-101

यह गाथा किंचित् शब्द परिवर्तन के साथ मूलाचार मे देखिए–

एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।

एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ।। मूलाचार-2/11 (47)

उक्त गाथा भाषागत परिवर्तन के साथ महापच्चवक्खाण में इस प्रकार है।

एक्को उप्पज्जए जीवो, एक्को देव विवज्जई।

एक्करस्स होइ मरणं एक्को सिज्झइ नीरजो।। महापच्चक्खाण7/14/1454

वीरभद्र के आउरपच्चक्खाण मे देखें–

एगो वच्चइ जीवों एगो चेवुववज्जई।

एगस्स होई मरणं एगो सिज्झइ नीरजो।। वीरभद्र/आउरपच्च-16/26/2838

चंदोवेज्झयं में भी देखिए–

एगो जीवों चयइ, एगो उव्वज्जए सक्म्मेहिं।।

एगस्स होई मरणं एगो सिज्झइ नीरजो।। चंदादेज्झय 3/161/699 फुटनोट।

उक्त गाथा भाषा एव शब्द परिवर्तन के साथ आउरपच्चक्खाण (2) मे उपलब्ध है, किन्तु भावसाम्य तो है ही। यथा–

एक्को जायइ जीवो मरई उप्पज्जए तहा एक्को।

संसारे भमइ एक्को एक्को च्चिय पावई सिद्धिं।।

आउरपच्चकखाण (2) 13/29/2607

एगो में सासदों अप्पा णाणदंसणलक्खणो।

सेसा में बाहिरा भावा सब्बे संजोगलक्खणा।। नियमसार-102

नियमसार की यह गाथा भावपाहुड, मूलाचार, महापच्चक्खाय, चदावेज्झयं, आराहणापयरण, आउरपच्चक्खाण (1) तथा वीरभद्र के आउरपच्चक्खाण मे पायी जाती है। यथा–

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। भावपाहुड-59

एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। मूलाचार-2/12(48)

एक्को मे सासओ अप्पा नाणदंसणलक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। महापच्चक्खाण-7/16/1456

एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसणसजुओ।

सेसा में बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। चंदोवेज्झय-3/160/648। आराहणापयरण-5/67/2586। आउरपच्चक्खाण (1)-6/29/1439। वीरभद्रआउरपच्च-6 16/27/2836

जं किंचि मे दुच्चरित्त सव्वं तिविहेण वोसरे।

सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिराकारं।। नियमसार-103

उक्त गाथा मूलाचार, वीरभद्र के आउरपच्चक्खाण, महापच्क्खाण तथा मरण विभक्ति मे उपल्बध होती है। ग्रन्थान्तरों का मूल पाठ निम्न प्रकार है–

जं किंचि में दुच्चरियं सव्वं तिविहेण वोसरे।

सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं।। मूलाचार-2/3

जं किंचि व दुच्चरियं तं सव्वं वोसिरामि तिविहेणं।

सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं निरागारं।।

वीरभद्र/आरउरपच्क्खाण-16/19/2831

जं किंचि वि दुच्चरियं तमहं निंदामि सव्वभावेणं।

सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं निरागारं।। महापच्चक्खाण-7-3/1443

जं किंचि वि दुच्चरियं तमहं निंदामि सव्वभावेणं।

सामाइयं च मि तिबिहं तिविहेण करेम ऽ णागारं।। मरणविभक्तति-5/211/960

सम्मं में सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।

आसाए वोसरिता णं समाहिं पडिवज्जए।। नियमसार-104

यह गाथा मूलाचार मे दो बार, वीरभद्रके आउरपच्चक्खाण में दो बार तथा आराहणापडाया मे मिलती है। महापच्चक्खाण तथा आरपच्चक्खाण (1) मे उक्त गाथा का पूर्वार्द्ध यथावत् मिलता है। उनका मूलपाठ इस प्रकार है–

सम्मं में सव्वभूदेतु वेरं मज्झं ण केणवि।

आसाए वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए।। मूलाचार-2/6

उक्त गाथा मूलाचार-3/3 में भी प्राप्त होती है।

सम्मं में सव्वभूएतु वेरं मज्झ न केणई।

आसाओ वोसिरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए।। वीरभद्र/आरपच्च-16/22/2834

सम्मं मे सव्वभूएसू वेरं मज्झ न केणई।

आसाओ वोसिरित्ताणं समाहिमणुपालए।। वीरभद्र/आरपच्च'16/14/2826

सम्मं मे सव्वभूएसू वेरं मज्झ ण केणइ।

आसाओ वोसिरित्ताणं समाहिमणुपालए।। आराहणापडाया-1/564

सम्मं मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई।

खामेमि सव्वजीवे खमाम ऽ हं सव्वजीवाणं।। महापच्च-7/140/1580

खामेमि सव्वे जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।

मित्ती में सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ।। आउरपच्चक्खाण (क) 6/8/1418

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो।

संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुह हवे।। नियमसार-105

यह गाथा मूलाचार तथा वीरभद्र के आउरपच्चक्खाण में प्राप्त होती है। उनका मूलपाठ निम्न प्रकार है-

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो।

संसारभयभीदस्स पच्चकखाणं सुहं हवे।। मूलाचार-2/68/ (104)

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो।

संसारपरिभीयस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे।। वीरभद्र/आउरपच्च-16/69/2881

आलोयणमालुंछण विरूडीकरणं च भावसुद्धी य।

चउविहभिम परिकहियं आलोयणलक्खणं समए।। नियमसार-108

इस गाथा की तुलना मूलाचार की निम्न गाथा से कीजिए–

आलोचणमालुंचन विगडीकरणं च भावसुद्धी दु।

आलोचिदम्हि आराधणा अणालोचदे भज्जा।। मूलाचार-7/124

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।

संतोसेण य लोहं जिणदि खु चत्तारि विकसाए।। नियमसार-115

उक्त गाथा भगवती आराधना, आराहणापडाया, मरणविभत्ति, एवं आराहणापडाया-2 में उपलब्ध होती है। उनका मूलपाठ इस प्रकार है–

कोहं खमाए माणं च मद्दवेणाज्जवेण मायं च।

संतोसेण य लोहं जिणदु खु चत्तारि विकसाए।।

भगवती आराधना-226 पृ 262

कोहं खमाए माणं मद्दव्या अज्जवेण मायं च।

संतोसेण य लोहं जिणइ हु चत्तारि वि कसाए।। आराहणपहाया-1 (17)

कोहं खमाई माणं मद्दवया अज्जवेण मायं च।

संतोसेण य लोभं निज्जिण चत्तारि विकसाए।। मरणविभक्ति-5/189/938

कोहं खमाई माग्र च मद्दवेण ऽ ज्जवेण मायं च।

संतोसेण य लोहं संलिहइ लहुं कसाए तो।। आराहणापडाया-2/150/1092

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।

तस्स सामइगं ठाई इदि केवलिसासणं।। नियमसार-125

मूलाचार में इसका पूर्वाद्ध यथावत् पाया जाता है। उत्तरार्ध का पाठ पृथक् है। उसका मूलपाठ निम्न प्रकार है–

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।

जीवो सामाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं।। मूलाचार-7/23

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।

तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे।। नियमसार-126

यह गाथा मूलाचार, आवश्यक निर्युक्ति एव तित्थेगाली प्राकीर्णक में मिलती है यथा–

जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य।

तस्स सामायिंय ठादि इदि केवललिसासणे।। मूलाचार-7/25

जो समो सव्वभूएसुं तसेसु थावरेसु य।

तस्स सामाइयं होई इइ केवलिभासिअं।। आवश्यक निर्युक्ति गाथा-797

जो समो सव्वभूतेसु तसेसु थावरेसु य।

धम्मो दसविहो इति केवलिभासितं।। तित्थोगाली-20/1208/4749

जस्स संणिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।

तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसाएणे।। नियमसार-127

यह गाथा मूलाचार और आवश्यक निर्युक्ति में प्राप्त होती है। उसका मूलपाठ इस प्रकार है–

जस्स संणिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।

तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणं।। मूलाचार-7/24

जस्स सामाणिओ अप्पा संजमे णियमे तवे।

तस्स सामाइयं होइ इइ केवलिभासिअं।।

आवश्यक निर्युक्ति, गाथा-797 पृ 435

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणंति दु।

तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणं।। नियमसार-128

यह गाथा मूलाचार में पायी जाती है। यथा—
जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जणेंति दु।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे।। मूलाचार-7/26
जो दु अट्टं च रूद्दं व झाणं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइयं ठाई इदि केवलिसासणं।। निममसार-129
जो दु अट्टं च रूद्दं च झाणं वज्जदि णिच्चसा।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे।। मूलाचार-7/31
जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइणांठाई इदि केवलिसासणे।। नियमसार-133
यह गाथा मूलाचार मे मिलती है। उसका मूलपाठ निम्न प्रकार है—
जो दुधम्मं च सुक्कं च झाणे झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामयियं ठादि इदि केवलिसासणे।। मूलाचार-7/32
ण वसो अवसो अवसरस्स कम्ममावासयं ति बोधव्वा।
जुत्ति त्ति उवाउं तिय णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती।। नियमसार-142
यह गाथा मूलाचार मे यथावत् रूप मे पायी जाती है। यथा—
ण वसो अवसो अवसरस्स कम्मभावसासयं ति बोधव्वा।
जुत्ति त्ति उवाय त्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती।। मूलाचार-7-14

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि नियमसार की प्रवचनसार मे दो, समयसार मे दो, पचास्तिकाय में दो, भावपाहुड मे तीन, भगवती आराधना मे तीन, मूलाचार मे बाईस, गोममटसार जीवकाण्ड मे दो, आवश्यक निर्युक्ति मे दो, महापच्चक्खाण मे छह, आउरपच्चक्खाण (1) मे दो, आउरपच्चक्खाण (2) मे एक, वीरभद्र के आउरपच्चक्खाण मे आठ, चदावेज्झयं मे दो, तित्थोगाली मे एक, आराहणापयाण मे एक, आराहणपहाया (1) में दो, आराहणावडाया (2) मे एक तथा परणविभक्ति मे तीन गाथाएँ प्राप्त होती है। नियमसार की गाथा सं 99 से 105 तक की सात गाथाएँ प्रत्याख्यान से सम्बन्द्ध है। ये सातो गाथाएँ अनेक ग्रन्थों मे उपलब्ध हैं। इसी प्रकार नियमसार की गाथा सं 126 से 129 तक की पॉच गाथाएं मूलाचार में एक साथ मिलती हैं। ☐☐

णमोकार मन्त्र का (शब्दशास्त्रीय) मान्त्रिक विवेचन

–पं. अरूण कुमार शास्त्री

मन् धातु में ष्ट्रन् प्रत्यय के सयोग से मन्त्र शब्द व्युत्पन्न हुआ है। अर्थात् जिनका मनन/चिन्तन किया जाये उन्हे मन्त्र कहते हैं। विशिष्ट प्रकार के स्वर व्यञ्जनों के समाहार का नाम मन्त्र है। मन्त्रशास्त्र के अनुसार प्रत्येक वर्ण में भिन्न प्रकार की आकर्षण विद्युत विद्यमान होती है जिसके कारण विधिपूर्वक पारायण द्वारा मन्त्र सिद्धि प्राप्ति का साधक होता है वर्णो की शक्ति के साक्षात्कर्ता तपोपूत आचार्य/ऋषि इन वर्णो का यथायोग्य रीति से सकलन/ग्रन्थन कर मन्त्रों को चमत्कारिक व प्रभावशाली बनाते है। जैन दर्शन की परम्परा के आचार्य भगवन्तों ने यन्त्र मन्त्र के क्षेत्र मे स्वात्मोन्मुखी तपस्या से प्राप्त अलौकिक उपलब्धियों के बलबूते पर उपासना प्रणाली को शक्तिशाली एवम् ऊर्जा सम्पन्न बना दिया है। परिणामस्वरूप जैन परम्परा मे विद्यानुवाद, भैरव पद्मावती कल्प, ऋषिमण्डलकल्प, णमोकार कल्प, ज्वालामालिनी कल्प ग्रन्थों के अतिरिक्त जैनाचार्यो ने मन्त्र यन्त्र समन्वित उवसग्गहर स्तोत्र, (भद्रबाहु स्वामी) कल्याण मन्दिर स्तोत्र (आ कुमुदचन्द्र) विषापहार स्तोत्र जिनचतुर्विंशतिका (भूपाल कवि) आदि अनेकों स्तोत्रों की रचना कर मन्त्रविद्या की श्रीवृद्धि की है। उक्तानुक्त जैन परम्परा के सभी मन्त्र व मान्त्रिक स्तुतियां णमोकारमन्त्र पर आधारित है। **'विद्यानुवाद'** ग्रन्थ मे सभी बीजाक्षरों एवम् मातृका ध्वनियों की उत्पत्ति णमोकारमन्त्र से ही बतायी गयी है। उक्त श्लोक मन्त्र की अनादिनिधनता को बतलाता है। अनादिकाल से अब तक मोक्ष गए अनन्त मुनियों के द्वारा इसी मन्त्र का पारायण/स्मरण/ध्यान किया गया है। तीर्थंकर की दीक्षा के समय देव तथा लौकान्तिक देव वैराग्य भाव की वृद्धि के लिए इसी महामन्त्र का ध्यान करते है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में लिखा है–

ध्यायतोऽनादि संसिद्धान्, वर्णानेतान् यथाविधिः।
एनमेव महामन्त्र समाराध्येह योगिनः।
त्रिलोक्यापि महीयन्तेऽधिगताः परमां श्रियम्।।

प्रस्तुत लेख में मान्त्रिक/शब्दशास्त्रीय दृष्टिकोण से इस महिमावान् महामन्त्र का अध्ययन अपेक्षित है। शाब्दिकों ने शब्द को अनादिनिधन, जगत् की प्रक्रिया का आधार तथा ब्रह्मस्वरूप माना है। (वाक्यपदीय-1/1) न्यायवैशेषिकदर्शन के आचार्य शब्द को आकाश का गुण मानते हैं, परन्तु यह मान्यता अधुनातन वैज्ञानिक प्रयोगो द्वारा निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। मनोविज्ञान के अनुसार मन के तीन कार्य समृति कल्पना व चिन्तन शब्द के द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकते। वैयाकरणों ने शब्द के दो रूप स्फोट व वैखरी माने हैं तथा मतभेद से अन्य वैयाकरण नागेशभट्ट ने परा, पश्यन्ती, मध्यमा, और वैखरी ये चार रूप भी माने हैं।

जैन आचार्य, उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र अध्याय 5 सू. 24 में लिखा है कि शब्द

पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, जो पुद्गल परमाणुओं के कम्पन द्वारा उत्पन्न होता है। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में उक्त सूत्र की टीका में शब्द के 2 भेद व्याख्यात किए हैं— भाषात्मक व अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द अक्षारात्मक व अनक्षरात्मक के भेद से दो प्रकार का है। तथा इसी प्रकार अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक एवम् वैस्रसिक के भेद से दो प्रकार का है। मेघों का गर्जन बिजली की कड़क आदि वैस्रसिक हैं। प्रायोगिक शब्द के अन्तर्गत तत (ढोल तबले की आवाज) वितत (तांत वाले वीणा आदि के शब्द) घन (घण्टा, लाल आदि के ताठन के शब्द) सौषिर (बांसुरी शंख आदि के शब्द) आदि आते हैं।

ध्वनि विज्ञान के अनुसार शब्द (ध्वनि) वस्तुओं में होने वाले कम्पन से होते हैं। उनके अनुसार दो प्रकार की ध्वनियाँ मानी जाती हैं, श्रव्य ध्वनि अश्रव्य ध्वनि। वस्तु के कणों की स्पन्दन गति 32470 आवृत्ति के स्पन्दनों को हमारे कान ग्रहण कर सकते हैं। इससे कम आवृत्ति के स्पन्दन को कान ग्रहण नहीं कर पाते हैं। ध्वनि विज्ञान के नियमों के आधार पर आधुनिक विज्ञान में अनेक अन्वेषण हुए हैं और किये जा रहे हैं। रूस के वैज्ञानिकों ने फसल वृद्धि के लिये ध्वनिशास्त्र के आधार पर खेतों/बगीचों में टेपरिकार्डर लगाकर अशातीत उपलब्धियॉं प्रस्तुत की हैं। ध्वनि विज्ञान का ही संदाय है कि आज ऐसे इलेक्ट्रानिक उपकरण निर्मित हुए हैं जो विभिन्न शब्दों से सचालित होते हैं।

उपर्युक्त तथ्य मान्त्रिक शक्तियों की प्रामाणिकता के साक्षात् निदर्शन हैं। मन्त्रशास्त्र के कथन "अमन्त्र-मक्षरं नास्ति" के अनुसार कोई अक्षर ऐसा नहीं जो मन्त्रहीन हो। ह लि. प्रति विद्यानुशासन (द्वितीय अध्याय) ग्रन्थ में बताया गया है कि यह महामन्त्र सम्पूर्ण अक्षरों (स्वरों व वर्णों) का प्रतिनिधित्व करता है। इस महामन्त्र में प्रधान बीज 'ओम्' है, जो कि पञ्चपरमेष्ठियों का वाचक है। वैष्णव परम्परा में अ = ब्रह्मा, उ = विष्णु व म् = महेश। इन तीनों वर्णों के संयोग से मानी गयी है। इस प्रकार णमोकार मन्त्र का 'ओम्' बीज वैष्णव परम्परा के प्रधान त्रिदेव, ब्रह्मा, विष्णु व महेश तथा सृष्टि, स्थिति व संहृति का भी प्रतीक है।

ह लि. बीज कोश के अनुसार 'ओम्' तेजो बीज, कण्म बीज और भव बीज माना गया है। प्रणववाचक भी माना गया है। मन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों मे सभी व्यञ्जनों व स्वरों की संज्ञाएँ तथा ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णों का निरूपण भी किया गया है।

बीजकोश में ऐं भावबीज, लृ-काम, क्रीं = शक्ति, हं सः = विषापहार, क्रौं - अंकुश, ह्रां ह्रीं ह्रूं, ह्रौं ह्रः— संर्वशान्ति, मांगल्य, कल्याण, विघ्न विनाशक, क्षां क्षीं क्षूं क्षें क्षैं क्षो क्षौं— सर्वकल्याण, सर्व शुद्धि बीज के रूप में निरूपण मिलता है। णमोकार मन्त्र में कण्ठ, तालु, मूर्धन्य, अन्तःस्थ आदि सभी ध्वनियों के बीच विद्यमान हैं। जिस प्रकार— "ॐ" बीज सम्पूर्ण णमोकार मन्त्र से, ह्रीं की उत्पत्ति मन्त्र के प्रथमपद से, श्रीं की, उत्पत्ति, द्वितीय पद से, क्ष्वीं व क्ष्रीं की उत्पत्ति प्रथम द्वितीय व तृतीय पदों से, हैं की उत्पत्ति, णमोकारमन्त्र के प्रथम पद से, द्रां, द्रीं की उत्पत्ति चतुर्थ व पञ्चम पद से हुई है। ह्रा, ह्रीं, ह्रूं, ह्रौ हः ये बीजाक्षर प्रथम पद से हुई है। ह्रां, ह्रीं, ह्रूँ, ह्रौ हः ये बीजाक्षर प्रथम पद से, क्षां क्षीं क्षूं क्षें क्षैं क्षो क्षौ क्षः बीजाक्षरों की उत्पत्ति द्वितीय व पञ्चम पदों से हुई है। समस्त मन्त्रों के रूप, बीज व पल्लव

इसी महामन्त्र से उद्‌भूत हैं। चतुर्विंशति तीर्थंकरोंके नामाक्षर, यक्ष यक्षणियों के नामाक्षर इसी मन्त्र में समाहित हैं। ज्ञानार्णव में एकाक्षर से आरम्भ कर षोडशाक्षर मन्त्रों के निर्माण इस महामन्त्र अक्षरों पर अवलम्बित हैं, कहा गया है—

स्मर पञ्चपदोद्‌भूतां, महाविद्यां जगन्नुताम्।
गुरुपञ्चक नामोत्थां, षोडशाक्षर राजिताम्।।

प्रवचनसारोद्वार वृत्ति मे लिखा है कि णमोकार मन्त्र सम्पूर्ण मन्त्ररत्नों की उत्पत्ति के लिए रत्नाकर सर्वकल्पित पदार्थों की प्राप्ति हेतु कल्पद्रुम, विषधर शाकनी, डाकिनी याकिनी आदि निग्रह हेतु समर्थ विषवत्, सम्पूर्ण जगत् के वंशीकरण आकर्षण आदि हेतु अव्यभिचारी समर्थ कारण तथा चतुर्दश पूर्वों में सारभूत है।[1] इसी प्रकार जिनकीर्ति सूरि ने भी यही भाव उद्‌धृत किये है।

संक्षेप में णमोकारमन्त्र सर्व मन्त्रों में शिरोमणिभूत अति-महिमावान्, मन्त्रजनक के रूप साहित्य में आहृत है तथा एकल दुख का अमोघ अस्त्र है।

सर्वमन्त्र रत्नानामुत्पत्त्याकरस्य प्रथमस्य कल्पित पदार्थ करर्णक कल्पद्रुमस्य विषविष धरशाकिनी डाकिनी याकिन्णादि निग्रह निखग्रह स्वभावस्य सकलजगद्वशीकरण कृष्ट्यादि अव्यभिचार प्रौढप्रभावस्य चतुर्दशपूर्वाणा सारभूतस्य, पञ्चपरमेष्ठीनमस्कारस्य महिमाऽतयद्‌भुतं वरीवृतत्रे।।

Regd. with the Ragistrar of Newspaper at R.No. 10591/62

'अनेकान्त'
आजीवन सदस्यता शुल्क : 101.00 रू.
वार्षिक मूल्य : 6 रु., इस अक का मूल्य : 1 रुपया 50 पैसे
यह अंक स्वाध्याय शालाओ एव मदिरो की माग पर निःशुल्क

विद्वान लेखक अपने विचारो के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारो से सहमत हो। पत्र मे विज्ञापन एव समाचार प्रायः नही लिए जाते।

संपादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, संपादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक : श्री भारत भूषण जैन एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-2
मुद्रक : मास्टर प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32